उदय-अस्त

तथा

अन्य कहानियाँ

लेखक

पृथ्वीनाथ शर्मा

प्रकाशक

हिन्दी भवन

प्रथमवार]   [मूल्य २।)

प्रकाशक
धर्मचन्द्र नारंग
हिन्दी भवन
लाहौर

मुद्रक
देवचन्द्र नारंग
एच०बी०प्रेस
लाहौर

विषय-सूची

विनय को

उदय-अस्त

"क्या कोई हमारे मतलब की भी चीज़ आई है ?" दूकान में घुसते हुए मैंने एक फटे-से दरी के टुकड़े पर बैठे हुए दूकानदार से पूछा।।

"आई तो थी"—दूकानदार अपने नीले होंठ खोलता हुआ और दो चार बचे-खुचे पीले दाँत प्रदर्शित करता हुआ मुस्कुराया। झुर्रियों से घिरी हुई छोटी-छोटी आँखों से उसने एक बार मेरी ओर देखा और कहने लगा—"और बाबू जी थी भी एक गज़ब की चीज़। मुझे निश्चय है कि आपकी चित्र-शाला में एक भी वैसा चित्र नहीं होगा। चित्र की एक-एक लकीर से एक मँजे हुए उस्ताद के हाथ साफ दीखते हैं। कई दिनों तक तो मैंने आपका इन्तिजार किया, पर जब आप न आए तब कल उसे बेच डाला।"

मैं कई वर्षों से पुराने हस्तलिखित चित्रों तथा पुस्तकों की तलाश में उस निर्जन से बाज़ार के कोने में छिपी उस बूढ़े कबाड़ी की दूकान पर प्रायः आता-जाता रहता था। इसलिए मेरी उससे काफी जान-पहिचान हो गई थी। यद्यपि मेरे साथ उसका व्यवहार अधिकतर बेलाग ही होता था, तो भी कभी-कभी दाम बढ़ाने के लोभ से वह मुझ पर भी अपनी चतुर जिह्वा तथा उससे भी चतुर भाव-भंगी-द्वारा दाँव चलाने से न चूकता था। क्या आज भी वह वही खेल तो नहीं खेल रहा है, यह जानने के लिए मैंने पैनी दृष्टि से उसके चेहरे पर सचाई ढूँढ़ते हुए पूछा—"सच-मुच बेच डाली ?"

"जी साहब। भला आप भी हम पर सन्देह करते हैं। आपसे हमने कभी कुछ छिपाया भी है ? आधा दाम जो कल मिल गया था, अभी तक मेरी जेब में है और बाक़ी दाम लेकर खरीदार अभी आते ही होंगे।"

"तो चित्र तो अभी तुम्हारे पास ही पड़ा है न ?" मैंने उछल कर पूछा।

"जी, इससे तो इनकार नहीं।"

"दिखाओ तो ज़रा।"

अपने घुटनों पर हाथ रखकर जो चमगादड़ के चमड़ेसे मढ़े हुए मालूम देते थे, वह उठ खड़ा हुआ। और दूकान में इधर-उधर बिखरे पड़े पुराने कोट, वास्कट, चीनी के बर्तन, टूटे हुए जूते, लोहे-पीतल के तसले, चाक़ू, क़ैंचियाँ तथा अन्य कई ऐसी वस्तुओं से कहीं बचता तथा कहीं उलझता हुआ दूकान के अन्दर की ओर चल दिया। दूकान के अन्त में अख़बार के काग़ज़ में लिपटा हुआ एक चौखटा पड़ा था। उसे उठाकर उपरले काग़ज़ को उतारता हुआ लौट आया। उसे मेरे हाथ में पकड़ा कर दाँत निकालता हुआ बोला—"लीजिए साहब, ज़रा हृदय थाम कर देखिए।"

चित्र देखकर मैं खिल उठा। ऊँची कला का सच-मुच वह एक अछूता तथा अद्वितीय नमूना था। वह थी तो आधुनिक कूची की ही करामात, परन्तु उस कूची के स्वामी की अँगुलियों में अद्भुत चतुरता थी, स्वर्गीय जादू था। पाँच-छः वर्ष के बालक के चेहरे पर सरलता, चुलबुलाहट करुणा तथा सुन्दरता का इतना अच्छा तथा स्वाभाविक सम्मिश्रण करने में बड़े बड़े पूर्वीय तथा पश्चिमीय कलाकारों में भी शायद ही कोई इतना सफल हो सका हो। उसके लाल लाल कलामय होंठों पर खेलती हुई हलकी मुस्कान सागर से भी गहरी उसकी बड़ी बड़ी काली आँखें, ज्योतिर्मय उन्नत ललाट, और रेशम से भी कोमल भूरे भूरे बालों का चित्रण इतना सजीव था कि कला से अनभिज्ञ पुरुष भी उसकी एक झलक देख कर ही एक वार तो अवश्य झूम उठता। वह चित्र नहीं बल्कि किसी तपस्या का वरदान था।

"कितने में बेचा है इसे ?" चित्र से ध्यान हटाकर मैंने दूकानदार से पूछा।

"मिट्टी के मोल। केवल दो सौ रुपये में।"

दो सौ रुपये में! यह अमूल्य स्वर्गीय विभूति इतने थोड़े दामों मेरे हाथ आ सकती थी; यह सोचकर मैं खेद से विकल हो उठा। रोकते रोकते भी एक बार मेरे मुँह से निकल ही गया, "क्या सचमुच तुम्हारा सौदा पक्का हो चुका है?"

"हाँ जी"। दूकानदार के स्वर में भी खेद घुस पड़ा था—"और खरीदार भी आपकी भाँति एक बहुत पुराने ग्राहक हैं। यदि कोई और होता तो शायद मैं सौदे से फिर भी जाता। परन्तु अब विवश हूँ।"

मैंने एक बार फिर लालसा-पूर्ण नेत्रों से चित्र की ओर देखा। फिर उसे दूकानदार के हाथ में पकड़ाकर बाहर की ओर चल दिया। मैं अभी बाहर निकला ही था कि धीमे स्वर में दूकानदार ने पुकारा—'बाबू जी।"

"क्यों?" मैं लौट पड़ा।

"मैं आपको बताना तो नहीं चाहता था"। मेरे ऊपर अहसानों का बोझा लादते हुए उसने कहना आरम्भ किया—"पर आपका बहुत नमक खा चुका हूँ, इसलिए छिपा नहीं सकता। ठीक ऐसा एक और भी चित्र है।"

"कहाँ?" मैं ज़रा उत्तेजित हो उठा।

"जहाँ से यह खरीदा था।"

"परन्तु उसे तुम क्यों छोड़ आये?"

"क्योंकि चित्र-स्वामी उस दिन उसे किसी भी दाम पर बेचने को तैयार न थे। पर वे बेचेंगे अवश्य। वे ऐसे दलदल में फँसे हैं जिसमें चित्र बेचे बिना छुटकारा पाना, मैं समझता हूँ, असम्भव है।"

यह कहकर उसने मुझे उनका नाम तथा पता बता दिया। दूकानदार को धन्यवाद देकर मैं दूकान से बाहर निकल आया। कलाई पर बँधी हुई घड़ी की ओर देखा। छः बजने में अभी कुछ मिनट बाक़ी थे। इसलिए

उसी समय घर पहुँचा। जेब में कुछ रुपये डाले और चित्र की खोज में निकल पड़ा।

[२]

शहर की ऊबड़-खाबड़ तंग और गंदी गलियों में स्थान स्थान पर लगे कूड़े-कर्कट के ढेरों से टकराता, भूलता-भटकता लगभग एक घंटे के अनन्तर मैं कबाड़ी की बताई गली तक आखिर जा ही पहुँचा। मैंने एक दृष्टि से उस बहुत ही तंग तथा अँधेरी परन्तु काफ़ी लम्बी गली की ओर देखा। गली के बाहर एक हलवाई की छोटी-सी दूकान थी। मैं उसी के पास पहुँचा—"क्या इस गली में कोई राजेन्द्रनाथ भी रहते हैं?"

"जी, गली की दाईं ओर अन्त में उनका मकान है।"

अब तक अँधेरा हो चुका था। गली के दोनों ओर के मकानों से कहीं कहीं निकलती हुई ज्योति की लकीरों की सहायता से मैं गली के लगभग मध्य में जा पहुँचा। वहाँ पर गड़ी एक लालटेन, जो शायद म्युनिसिपैलिटी की कृपा का फल थी, एक धुँधले-से प्रकाश-स्तम्भ का काम दे रही थी। लालटेन के दो ओर के शीशे तो ठीक थे, पर एक ओर शीशे के स्थान पर पुराना-सा कागज़ लग रहा था और चौथी ओर का शीशा आधे से अधिक फूट चुका था। इसलिए कभी कभी पता नहीं, कहाँ से आकर हवा का एकाध झोंका उस ज्योति-शिखा से छेड़-छाड़ करके उजाले को और भी कम कर देता था। उस लालटेन के नीचे तीन-चार धूल से सने बालक खेल रहे थे और ताक़त की दवाइयों के विज्ञापनों में छपनेवाली प्रेमभरी गज़लों की कोई कोई कड़ी गुनगुना रहे थे।

"क्यों भई"? एक लड़के के कन्धे पर हाथ रखते हुए मैंने पूछा—"राजेन्द्रनाथ जी कहाँ रहते हैं?"

"उस पुराने-से मकान में जिसकी आधी खिड़की खुली है।" संकेत-द्वारा मकान बताते हुए उसने जवाब दिया।

मैं वहाँ जा पहुँचा और द्वार खटखटाया। जब दो बार खटखटाने

से कुछ फल न निकला तब मैंने आहिस्ता से द्वार को धकेला। अन्दर से साँकल नहीं लगी थी, इसलिए द्वार खुल गया। मैंने अन्दर झाँका। कमरा खाली पड़ा था और उसके एक कोने में एक अधखुले दरवाज़े के निकट रक्खा एक पुराना-सा मिट्टी के तेल का लैम्प टिमटिमा रहा था मैंने कमरे के अन्दर मुँह किये ही एक आवाज लगाई, जो शायद गृह-स्वामियों तक पहुँच गई। क्योंकि ठीक उसी समय लैम्प के पास से निकल कर एक अधेड़ अवस्था की स्त्री मेरे सम्मुख आ खड़ी हुई। उसने अपने वेदना-भरे विशाल नेत्रों-द्वारा मुझ पर एक प्रश्न-सूचक दृष्टि दौड़ाई।

"क्या राजेन्द्रनाथ जी घर पर हैं?" मैंने पूछा।

"हाँ"। उसने उदासीन परन्तु शिष्ट स्वर में जवाब दिया—"आपको उनसे कुछ काम है क्या?"

"मैंने सुना है, उनके पास एक हस्तलिखित चित्र है। मैंने सीधा मतलब की बात पर आना ही ठीक समझा—"यदि उन्हें वह बेचना हो तो मैं उचित दाम पर खरीदने को तैयार हूँ।"

"चित्र! तो ये चित्र की तलाश में आ रहे हैं।" उसके होंठ ज़रा थिरक उठे। उसने मेरी ओर ऐसे देखा मानो कोई चोर उसका अमूल्य ख़ज़ाना जिसे बचाने का उसके पास एक भी साधन न हो, लूटने आ गया हो। उस दृष्टि की विवशता ने मुझे आधे क्षण के लिए कँपा दिया। फिर एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर वह ऐसे बोलती गई मानो अपने आप से बातें कर रही हो—"परन्तु उस चित्र को छिपाकर ही कब तक रख सकते हैं। उनकी शारीरिक ज्वाला को शान्त करने के लिए उन्हें यह मानसिक वेदना तो सहनी ही होगी। इस हृदय के टुकड़े को भी दूसरे के हाथों सौंपना ही होगा। उफ़!"

यह कह कर वह रुक गई। अपने सिर को ज़रा झटका देकर हिलाया और बोली—"हाँ उन्हें वह बेचना है। आप अन्दर आ जाइए।"

कमरे में एक टूटी-फूटी लकड़ी की कुर्सी पड़ी थी। जिस पर बैठने

का मुझे आदेश करके वह लैम्प के पासवाले द्वार में घुसती हुई अदृश्य हो गई।

मैं उस अर्द्ध-प्रकाशित कमरे में चुपके से बैठ गया। कमरे में बिलकुल सन्नाटा था। हाँ, कभी कभी मानो कहीं बहुत दूर से किसी के खाँसने तथा उत्तेजना-भरे शब्दों में होंठों होंठों में ही बातें करने का अस्पष्ट-सा स्वर उस सन्नाटे से टकराकर कमरे के वातावरण में विलीन हो जाता था। क्या जाने वह स्वर कौन-सी करुण कहानी कह रहा था! कौन कह सकता था कि उस कमरे की चहारदीवारी में किन हृदयविदीर्ण चोटों की स्मृतियाँ छिपी हुई थीं? आह आज यदि अतीत कहीं जिह्वा पा जाय तो पता नहीं, संसार के एक एक कोने से किन भावों का स्रोत वह निकले? कह नहीं सकता मैं कितनी देर इन्हीं वास्तविकता-रहित बातों में उलझा रहा। अभी मैं इन्हीं विचारों में ही डूबा था कि वह आ गई।

"चलिए आपसे वे बात करना चाहते हैं।" उसके नेत्रों के आँसू अभी पूरी तरह सूख नहीं पाये थे।

मैं उठ खड़ा हुआ। उसके पीछे ऐसे चल पड़ा मानों कोई स्वप्न देख रहा हूँ। द्वार पार करके हम दूसरे कमरे में पहुँच गये। यह कमरा पहले कमरे से कुछ बड़ा था, परन्तु था लगभग अँधेरा ही। उसी लैम्प से फूटती हुई दो-चार किरणें केवल कमरे के आरम्भिक भाग को थोड़ा प्रकाशित अवश्य कर रही थीं।

[३]

"इन्हें अधिक रोशनी नहीं भाती।" मुझे उनकी चारपाई के पास पड़ी हुई एक पहले जैसी टूटी-फूटी कुर्सी पर बैठने का उसने संकेत किया और चारपाई की ओर मुँह करके पूछा—"क्या लैम्प ज़रा इधर ले आऊँ?"

"हाँ।" एक बहुत ही क्षीण तथा ज़रा काँपती हुई आवाज़ में जवाब मिला।

आधे क्षण में ही उसने लैम्प को कमरे के मध्य में ला रक्खा। दीवार का आश्रय लेकर तकिये के सहारे बैठे हुए मनुष्य का चेहरा अब भले प्रकार दृष्टिगोचर हो रहा था। कितना करुण था वह मुख! उसके होंठ लगभग श्वेत, बढ़ी हुई दाढ़ी और मूँछों में छिपे थे, कभी चित्ताकर्षक रही हुई आँखें अन्दर को धँस चुकी थीं, रक्तरहित पीत मस्तक पर कई-एक चिन्ता की रेखाओं के साथ साथ एक-दो हरी हरी नाड़ियाँ उस धुंधले प्रकाश में भी साफ़ दीख रही थीं। हाँ, नाक की तीक्ष्णता में कुछ फ़र्क नहीं आया था, नासिका अब भी एक उच्च व्यक्तित्व की साक्षी दे रही थी। कोई एक मिनट तक हम एक-दूसरे का निरीक्षण करते रहे। इसके अनन्तर कुछ बोलने के लिए मैं अभी मुँह ही खोलने जा रहा था कि राजेन्द्रनाथ जी सहसा बोल उठे—"क्या कहीं अजीतमोहन तो इधर नहीं भूल पड़े?"

अपना नाम सुनकर मैं चौंक उठा। आश्चर्य से आँखें फाड़ फाड़कर उस रुग्ण व्यक्ति की ओर देखने लगा, "हाँ, परन्तु"—

"तुम मुझे नहीं पहचानते यही पूछने जा रहे थे न। अब पहचान ही कौन सकता है" वे बीच में ही बोल उठे। कितनी वेदना थी उनके स्वर में! "क्या वह दिन याद है जब आज से बीस वर्ष पहले तुम उस महान् कलाकार हलधर के पास चित्रकारों पर कोड़े चलाने की कला सीखने जाया करते थे। उसी के स्थान पर एक क्षुद्र परन्तु उमङ्गों और स्वप्नों में खेलनेवाले चित्रकार से प्रायः तुम्हारी भेंट हुआ करती थी, जिसके साथ बैठकर तुम कभी कभी घंटों माईकल एंजेलो, डा० विंची और ऐसे ही कितने उस्तादों की चर्चा छेड़े रखते थे। मैं वही क्षुद्र चित्रकार हूँ।"

"कमलेश्वर?" मुझे अपनी आँखों पर विश्वास न हुआ। क्या मनुष्य इतना भी बदल सकता है? क्या यह वही कमलेश्वर है जिसका एक एक अङ्ग साँचे में ढला था, जिसकी कला पर इस युग का सबसे बड़ा चित्रकार हलधर भी पागल था, ईर्ष्या करता था? "अजीत इसकी कला को जरा विकसित होने दो फिर देखना संसार किस तरह इस चित्रकार

की आरती उतारता है" हलधर के ये बार बार कहे हुए शब्द सहसा मुझे स्मरण हो आये। आह खूब आरती उतर रही है!

"हाँ वही।" ज़रा खाँसते हुए कमलेश्वर ने जवाब दिया—"जब मैंने चित्रकारों के जगत् में प्रवेश किया तब अपना असली नाम छोड़कर इसी नाम को अपनाया था। पर आज से पाँच वर्ष पहले जब पता नहीं किस दैवी कोप ने मुझे उस जगत् से, उस स्वर्ग से धकेल कर बाहर फेंक दिया, तब मैंने उस नाम को भी वहीं छोड़ आना उचित समझा। जिस नाम ने राजसी ठाठ देखे थे उसे क्यों इस दुख और वेदनाओं के संसार में अपने साथ खींच लाता?"

"पर आपको वह जगत् छोड़ना क्यों पड़ा?"

"इसलिए कि हाथों में तूलिका काँपने लगी और मन की एकाग्रता नष्ट हो गई।"

"अर्थात्।"

"मुझे झोला की बीमारी ने ग्रस लिया।" यह कह कर वे थोड़ा रुके। वे अभी और कुछ कहने ही जा रहे थे कि उनकी खाँसी जिसे वे बहुत देर से रोकते आ रहे थे, ज़ोर पकड़ गई। वे कई क्षण दिल दहलानेवाले स्वर में खाँसते रहे। उनकी पत्नी ने उनकी पीठ सहलाई। थोड़ा गर्म पानी पिलाया तब कहीं वह जाकर रुकी।

"जाओ वह चित्र तो उठा लाओ।" उन्होंने अपनी पत्नी को आज्ञा दी।

सामनी अलमारी में से निकालकर उसने सुनहरे चौखटे में जड़ा वह चित्र अपने पति के हाथ में पकड़ा दिया।

कमलेश्वर के हाथ में आते ही मैंने उसे ज़रा उचककर देखा। ठीक पहले जैसा चित्र था। वही आत्मा थी, वही दिव्य ज्योति इसमें भी प्रज्वलित थी। रजाई से ढँके अपने घुटनों पर चित्र रखते हुए कमलेश्वर बोले—

"अजीत, इन दो चित्रों को अंकित करने के लिए मुझे चाँद और

तारों के संसार से ऊँचे, बहुत ऊँचे उड़ना पड़ा था। अनन्त-सागर की अथाह गहराई तथा हाहाकारमयी लहरों में भटकना पड़ा था और पड़ा था अपने हृदय को पागल बनाना। इनको समाप्त करने पर मैं आनन्द से विह्वल हो उठा, हवा में तैरने लगा। उन दिनों हलधर जीते थे। मैं ये चित्र लेकर सीधा कला के उस परम पुजारी के पास पहुँचा।

"मुझे ठीक याद है, उस रात हलधर एक आराम कुर्सी पर बैठे थे। सामने अँगीठी जल रही थी और कमरा बिजली की हलकी ज्योति से प्रकाशित था। मुझे देखकर बोले, 'यह क्या लिये आ रहे हो?' मैंने कहा अपने हृदय के दो टुकड़ों का मोल अँकवाने आया हूँ।

"वहाँ कई कुर्सियाँ पड़ी थीं उनमें से दो का सहारा देकर मैंने वे चित्र ठीक उनके सामने रख दिये। चित्र की एक झलक देखते ही वे उछल पड़े। उठकर मुझे छाती से चिपटा लिया और बोले—'कमलेश्वर! तुम अमर हो गये। मेरी भविष्य-वाणी सत्य निकली। शीघ्र ही मैं एक प्रदर्शनी करने जा रहा हूँ। वहीं इन चित्रों का परिचय कलाकारों के जगत् में कराऊँगा और दिखाऊँगा कि कमलेश्वर के हाथ में कितना जादू है।' 'पर मैं इन्हें बेचूँगा नहीं', मैंने कहा। क्यों?' उन्होंने कहा। 'मैंने इन्हें बेचने के लिए नहीं बनाया। ये मेरी एकमात्र सन्तान मेरी नन्हीं लड़की को प्रतिमूर्तियाँ हैं। इनमें से एक मेरे पास और एक मेरी पत्नी के पास रहेगा।' मैंने कहा।

"भला वह लड़की आज-कल कहाँ है?" मैंने जरा उत्सुकता से पूछा।

"लड़की। वहीं जहाँ मैं कुछ दिनों में जा रहा हूँ"। उनकी आवाज टूटने लगी, पर उसे शीघ्र ही सँभाल कर वे बोले—"खैर। आप इस चित्र का क्या दाम देंगे?"

दाम! इस करुण कहानीके बाद क्या कोई सहृदय उस चित्र को खरीद सकता था? परन्तु उन्हें रुपये की बहुत जरूरत थी। चित्र दिये बगैर शायद वे एक कौड़ी भी लेने से इनकार कर दें। उच्च कलाकारों के

आत्माभिमान को मैं खूब जानता था। इसलिए आधे क्षण के लिए असमंजस में पड़ गया। पर एक बार पूछना तो होगा ही। "कमलेश्वर, एक निवेदन करना चाहता हूँ"—मैंने विनम्र स्वर में कहा।

"कहो।"

"इस चित्र को तुमसे छीनने का साहस नहीं होता। इसलिए यदि एक छोटा भाई तुम्हारे चरणों में कुछ भेंट रक्खे तो स्वीकार करके क्या तुम उसे कृतकृत्य न कर दोगे?"

कमलेश्वर प्रभावित हो गये। एक बार मेरी ओर कृतज्ञता-भरी दृष्टि से देखा। फिर गहरे सोच में डूब गये। उनके हृदय में ममता और आत्माभिमान में युद्ध छिड़ गया था। उसी से निपटने के लिए वे कुछ समय चाहते थे। वे बहुत देर ऐसे ही अनिश्चित अवस्था में बैठे रहे। आखिर कठोर आत्माभिमान ने कोमल ममता को मसल डाला। वे मेरी ओर देखकर बोले—"तुम्हारी कृपा के लिए अनेक धन्यवाद, पर मैं वह भेंट न स्वीकार कर सकूँगा। इसलिए मेरी परिस्थिति तथा अन्य सब बातों को भूलकर चित्र का उचित दाम बताइए।"

"पाँच सौ।" मैंने कहा।

कमलेश्वर ने मेरी ओर आश्चर्य से देखा—"मैं दया की भीख नहीं चाहता। मैंने पहला चित्र पचास में बेचा था। क्या सचमुच तुम घर से इतना दाम देने का निश्चय करके चले थे?"

"हाँ। इससे कम में यह चित्र खरीदना मैं पाप समझता हूँ।" मैंने जेब में हाथ डालकर वह नोटों का बंडल जो घर से लाया था, उनके आगे फेंक दिया। "गिन लीजिए, इतने दाम लेकर मैं निकला था।"

उन्होंने गिना। वे पूरे पाँच सौ के नोट थे। अब उन्हें विश्वास हो गया। उन्होंने अन्तिम बार चित्र को सतृष्ण नेत्रों से देखकर मेरे हाथ में दे दिया और नोट अपनी सिसकती हुई पत्नी के हाथ में। फिर थककर चारपाई पर लेट गये।

[४]

चित्र को लेकर मैं ऐसे चला मानो किसी का जीवित हृदय—अग्नि का एक अंगारा—बग़ल में दबाये हुए हो। मेरी अँगुलियों और शरीर के दूसरे भागों से जिसके साथ चित्र स्पर्श कर रहा था, सचमुच चिनगारियाँ फूट रही थीं। इस जलन से छुटकारा पाने के लिए मैं उतावली से घर की ओर बढ़ने लगा।

घर पहुँचकर मैंने उस चित्र को एक कोने में छिपाकर रख दिया। दो-चार दिन तक जब जी ठिकाने हो जायगा तब इसे उचित स्थान पर लगा दूँगा, यह सोच कर मैं कमरे से बाहर आँगन में निकल आया। आँगन में दो ही एक दिन में अस्त होने वाले चाँद की चाँदनी छिटकी हुई थी। उसकी किरणें आँगन के एक कोने में खिले, दो ही एक दिन में मुर्झानेवाले गुलाब के बड़े बड़े फूलों के कानों में कुछ कह रही थीं। शायद उन्हें अपने साथ ले डूबने का निमंत्रण देने आई थीं। आह उस दिन यह चाँद निकला था कितना प्यारा, किन उमंगों से खेलता हुआ और अब छिपने की घड़ियाँ गिन रहा है। हाँ! अभी कल ही तो ये फूल खिले थे। महक का समुद्र लेकर और लेकर हृदय में खलबली मचानेवाला सौन्दर्य। और अब जाने की फ़िक्र में मुर्झा रहे हैं। और कमलेश्वर। वे भी तो थोड़े दिन हुए अपने भविष्य से बेख़बर अपने स्वप्नों के संसार में अठखेलियाँ करते फिरते थे। और आज! इस उदय-अस्त की उलझन ने मुझे और भी बेचैन कर दिया। भागकर अपने कमरे में आया। बिना कुछ खाये पिये कपड़े बदलकर चारपाई की शरण ली।

पर नींद कहाँ! लगा चारपाई से शरीर रगड़ने। इसी झगड़े में जब लगभग दो घंटे बीत गये तब एक हलकी-सी झपकी आ गई। अस्त होनेवाला चाँद भूल गया, मुर्झाने-वाले पुष्प विस्मृति की गोद में जा छिपे, पर कमलेश्वर ने मेरा पीछा न छोड़ा। मेरे सिरहाने, पैताने, दायें, बायें, सभी ओर विवशता का 'नाच' नाचकर, काठ-सा सूखा हाथ फैलाकर

अपनी नन्हीं लड़की का चित्र माँगने लगे। मैं स्वप्न में भी विकल हो उठा, घबराकर उठ बैठा। फिर सारी रात जाग कर काटी। दूसरी रात भी यही हुआ। फिर तीसरी और चौथी भी।

अब मेरे लिए यह सब कुछ असह्य हो उठा। कुछ भी हो उनके आत्माभिमान को कितनी भी ठेस लगे मैं यह चित्र उन्हें लौटाकर ही आऊँगा। ऐसा निश्चय करके मैं चारपाई से उठते ही चित्र लेकर सीधा कमलेश्वर के मकान पर पहुँचा। पर द्वार के सामने पहुँचकर सहसा रुक गया। वहाँ ताला लग रहा था।

"आप किसे पूछते हैं?" साथवाले मकान से किसी ने सिर निकाल कर पूछा।

"राजेन्द्रनाथ जी को।"

"वे तो परसों गुज़र गये।"

"गुज़र गये!" मेरे आश्चर्य का ठिकाना न था। चाँद भी गया, फूल भी गये और कमलेश्वर भी गये। "और उनकी पत्नी?"

"वह कल से ग़ायब है।"

वह भी गई। मैं काँप उठा। एक बार उस बन्द द्वार की ओर देखा। फिर वापस चल पड़ा। और कर ही क्या सकता था? गया था हृदय की बेचैनी शान्त करने और लौटा उसमें एक भीषण तूफ़ान लेकर।

सात इन्द्रधनुष

'सात इन्द्रधनुष, जीजी!'—परेश उल्लसित होकर बोला।

'सात! कहाँ?'—हेमने आश्चर्य से पूछा।

'वह देखो, सामने।'—परेशने बाएँ हाथकी तर्जनी के संकेत से बताया। दाएँ हाथ में वह एक छोटी-सी मोटर और बड़ी-सी गेंद पकड़े हुए था।

चौरंगी में आउट्रम की विशालकाय घुड़चढ़ी मूर्ति के निकट कार्पोरेशन द्वारा निर्मित एक झील है। चूँकि बहुत दिनों से मेह नहीं बरसा था, इसलिए उस दिन उसमें नवीन जलका संचार किया जा रहा था। सात मोटे पाइपों से निकल स्फटिक-सी निर्मल सात जल-धाराएं वेग के साथ उस झील में गिरकर उसे फेनिल बना रही थीं। और उन धाराओं से अठखेलियाँ करती हुई रवि-रश्मियोंने विविध रंगों के सात इन्द्रधनुष रच दिए थे। इसी हृदयहारी और अपूर्व दृश्य को देखनेके लिए वहाँ लोगोंका जमघट लगा था।

वे दोनों भी मन्त्रमुग्ध-से आगे बढ़ते हुए लोगोंमें जा मिले; क्योंकि इन दोनोंके लिए यह दृश्य सर्वथा नवीन था। परेशके लिए कलकत्ता बिलकुल नया था और हेमके लिए पुराना होकर भी वह अब पुराना न रहा था। यह कलकत्ता उसका था ही कहाँ ? उसका कलकत्ता! किन्तु उस सब-कुछको सोचने से अब लाभ ही क्या ? आज तो वह एक साधारण नौकरानी थी। चाल-ढाल, रंग-ढंग, वस्त्रों—इन सभीको उसने इस तरह धारण किया था कि वह पूर्णतया नौकरानीका रूप पा गई थी। हाँ, उसके मुखका सांस्कृतिक ओज कभी-कभी ध्यानपूर्वक देखनेवालेको संशयमें अवश्य डाल देता था। उसे परेशके माता-पिताकी दृष्टिसे वह छिपा न सकी थी, इसलिए उसे 'गवर्नेस' (संरक्षिका) का पद मिल गया था, और परेशको आदेश हुआ था उसे 'जीजी' सम्बोधनसे पुकारनेका।

जीजी! कभी वह सचमुचकी जीजी ही नहीं, बल्कि 'ममी' भी थी। कितनी मधुर वाणी, कितना चंचल व्यक्तित्व, कितना सुन्दर मुख था उसे 'ममी' पुकारनेवालेका। वह उसपर किस तरह बलाएँ लेती थी। उसका ज़रा-सा कष्ट भी कैसे उसे बेचैन कर देता था। कुर्सीमे गिरकर जब उसने एक बार अपना माथा फोड़ लिया था, तो वह कितना रोई थी, कितनी उदास हुई थी! किन्तु यह सब-कुछ एक दिन छूमन्तर हो गया। कृष्ण पक्षकी एक काली अँधियारी रात्रिमें उसे सर्वस्व त्याग करनेपर विवश

होना पड़ा। विवश! हाँ, विवश ही तो! किन्तु क्या उसकी विवशता इर्ष्याके ईंधनके धुएँसे रची हुई कल्पना की मूर्त्ति न थी? क्या सब-कुछ त्यागकर उसने ठीक किया था? लेकिन आज आठ वर्षोंके अनन्तर अतीतके आवरणको हटानेसे क्या लाभ?

'जीजी, मेरी मोटर!—परेश सहसा चिल्ला उठा।

'क्या हुआ?'—हेमने मानो स्वप्नसे जागकर घबराते हुए पूछा।

'वह लड़का मेरी मोटर छीनकर ले गया है।'

कुछ ही दूरपर एक दुबला-पतला दस-ग्यारह वर्षका भिखारी बालक फटे-पुराने कपड़े पहने मोटर लिए तेज़ीसे भागा जा रहा था। हेम उस के पीछे भागी। लड़का गोली की तरह उड़ा जा रहा था, इसलिए हेमको उस तक पहुँचनेकी कोई आशा न थी। पर एकाएक लड़केका पाँव फ़िसल गया। वह ज़मीनपर चित्त जा पड़ा। हेमने उतावलीसे उसे जा दबोचा। झटपट मोटर उससे छीन ली और उसे थप्पड़ लगानेके लिए हाथ ऊपर उठाया; किन्तु उसका हाथ उठाका उठा ही रह गया। नेत्र विस्फारित हो उठे। उस लड़केके मस्तकपर धनुषाकार ठीक वैसा ही चिह्न था, जैसा उसके 'लाल'के मस्तकपर था। शक्ल-सूरत भी उससे मिलती-जुलती ही थी। हाँ, रंग इस बालकका उतना साफ़ न था। पर दस वर्षके बालकमें दो वर्षके बालककी-सी कोमलता कैसे रह सकती है? हेम इसी सोचमें थी कि बालक उठकर तेज़ीसे भाग चला और हेमके देखते ही देखते जन-समूह में छिपकर अदृश्य हो गया।

[२]

हेम परेशको लिए जब घर पहुँची, तो उसके शरीरका कण-कण प्रज्वलित और बेचैन था। वर्षोंसे दबाई जाती आ रही ममता आज मचल उठी थी। तो क्या यह उसका 'लाल' था, जो पता नहीं क्यों भिखारियोंकी पंक्तिमें जा बैठा था? सरोज और भिखारी! क्या उसका पिता इतना निर्दय हो गया? वह दो कौड़ीकी औरत क्या उसके व्यक्तित्वके साथ

इतनी मनमानी कर गई कि उसने अपने हृदयके टुकड़ेको घरसे बाहर निकाल दिया ? नहीं, अखिलका इतना पतन नहीं हो सकता। मानवीय दुर्बलताएँ उसमें अवश्य हैं; किन्तु उसका हृदय विशाल है। उसका अखिल ऐसा नृशंस कार्य नहीं कर सकता। उसका अखिल ! वह उपहास-भरे स्वरमें हँसी। वह अब उसका अखिल था ही कहाँ ? फिर ? इसी उधेड़-बुनमें हेमने सारा दिन बिता दिया। लाख यत्न करनेपर भी वह कुछ खा-पी न सकी।

रातको जब वह अपना काम समाप्तकर चारपाईपर पड़ी, तो भी भावोंकी आँधी उसे डावाँडोल कर रही थी। कभी उसके नेत्रोंके सामने उस दस-वर्षीय कठोर भिखारी बालकका चित्र नाचने लगता, तो कभी रेशमी वस्त्रोंसे सुसज्जित दो बर्षके सरोजकी मंजुल मूर्त्ति। क्या सचमुच वह सरोज था ? हो सकता है, उससे भूल हुई हो। किन्तु मस्तकपर के घावका चिह्न और गहरी भूरी आँखें वह भुलाए भी भूल न सकती थी।

वह उठकर कमरेमें टहलने लगी और सोचने लगी। किन्तु उसे कुछ सूझता ही न था। वह बहुत देर तक यों ही डग भरती रही। जब थककर चूर हो गई, तो फिर चारपाईका सहारा जा लिया और सोनेकी कोशिश करने लगी। बहुत देर तक चारपाईपर शरीर रगड़नेके अनन्तर उसे टूटी-फूटी नींद तो अवश्य आ गई; पर उस नींदमें भी घावका चिह्न और भूरे नेत्र अपनेसे कई गुना बड़े रूप धारण करके उसके इर्द-गिर्द मँडराते रहे।

प्रात: पौ फटनेसे बहुत पहले वह हड़बड़ाकर उठ बैठी। तो क्या उसकी यह उलझन सुलझ नहीं सकती थी ? थी तो, किन्तु वह रास्ता क्या वह अब पकड़ सकेगी ? वह कौन-सा मुँह लेकर उस घरकी ओर जा सकती थी ? यदि किसीने उसे पहचान लिया, तो उसका वर्षोंसे संचित आत्माभिमान मिट्टीमें मिल जायगा। पर जाए बग़ैर चल भी कैसे सकता था ? उसे जाना ही होगा। इस निश्चयपर पहुँचते-पहुँचते दिन उग आया

था। कहीं वह फिर इस निश्चयसे टल न जाय, इसी भयसे भागकर वह गृह-स्वामिनीके पास पहुँची।

"क्यों ?"—गृह-स्वामिनीने पूछा।

"दो घंटेकी छुट्टी चाहती हूँ।"

"अभी ?"

"हाँ।"

"कुछ खा-पी तो लेतीं।"

"नहीं, लौटकर खाऊँगी।"—हेमने जवाब दिया, "है आज्ञा ?"

"ज़रूरी कामसे जा रही हो ?"

"बहुत ज़रूरी।"

"अच्छा, हो आओ।"

"धन्यवाद।" कहकर हेम तेज़ीसे घरसे बाहर निकल गई।

[३]

हेम चल तो दी; पर ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ती जाती थी, उसके पग शिथिल होते जा रहे थे। जहाँ कभी वह वैभव की रानी थी, वहीं भिखारिन के रूप में उसे जाना था। पर अपनी हिचकिचाहट से झगड़ती वह चलती गई और आखिर निर्दिष्ट स्थान पर जा पहुँची। घर से कुछ दूरी पर एक बड़ा-सा पीपल का वृक्ष था। उसकी आड़ में से उसने एक बार अपराधियों की भाँति उस घर की ओर देखा, जो कभी उसका था। द्वार के बाहर बैठी एक बिलकुल नई मूर्ति उसे दीखी। इससे उसे साहस बँधा। सूती सफेद साड़ी के छोर को सँभालती हुई वह उस तक जा पहुँची और तीखी दृष्टि से उसकी ओर देखा। दरबान उठ खड़ा हुआ।

"आपको किसी से मिलना है ?"

"अखिल बाबू क्या घर पर हैं?"—हेमने धड़कते दिल से पूछा।

"अखिल बाबू।"—दरबान ने ज़रा आश्चर्य से हेम की ओर देखा।

"हाँ, वही, जिनके लड़के का नाम सरोज है।" उसके हृदय की धड़कन और भी तेज़ हो गई।

'लेकिन इस मकान में तो सेठ साहू रहते हैं।"

"सेठ साहू ?" हेम का हृदय धक्-से रह गया—"कब से रह रहे हैं ?"

"बहुत दिनों से। चार वर्ष से तो मैं भी यहाँ हूँ।"

"तो वे लोग न जाने कहाँ गए ?"

दरबान चुप रहा। हेम कुछ क्षण खड़ी इधर-उधर देखती रही, फिर एक-दीर्घ निःश्वास छोड़कर लौट पड़ी। अब तो उसे विश्वास हो चला कि वह भिखारी बालक उसका सरोज है। क्या जाने किन परिस्थितियोंके कारण उसे यह पथ पकड़ना पड़ा है। क्या जाने अखिलकी क्या हालत है। वह कहाँ है ? कहीं है भी या नहीं ? हेम काँप उठी। उसके नेत्रोंसे आँसू ढुलकने लगे। इन प्रश्नोंका उत्तर सिवाय उस भिखारी बालकके और कौन दे सकता था ? उसे ढूँढ़ना उत्सुकता शान्त करनेके लिए ही नहीं, बल्कि मनकी शान्ति पानेके लिए भी अनिवार्य हो गया था। पर बिना पता-ठिकाना जाने इतने बड़े शहरमें कौन किसीको ढूँढ़ सकता है ? किन्तु उसे तो खोजमें निकलना ही होगा। परेशको तजना होगा। यथार्थको छोड़कर शायद छायाके पीछे भटकना होगा। और चारा भी तो न था।

"बड़ी जल्दी लौट आई हो।"—हेमके घरमें क़दम रखते ही मालकिनने कहा।

"हाँ, किन्तु फिर छुट्टी लेने आई हूँ।"

"क्या मतलब ?"

"अब नौकरी न कर सकूँगी।"

"नौकरी न कर सकोगी ? और परेश ?"

"जानती हूँ, आपको असुविधा होगी, परेश उदास होगा। और उसे

छोड़ते हुए मेरे हृदयमें जो कसक उठ रही है, उसे सँभालना कितना कठिन है, यह भी जानती हूँ; पर विवश हूँ। मैं रुक न सकूँगी।"

गृह-स्वामिनीने ध्यानपूर्वक हेमकी ओर देखा। उसके मुख-पर दृढ़ निश्चयकी छाप पूरी तरह अंकित थी। उसे समझाना-बुझाना शायद उसे वेदना पहुँचाना होगा। इसलिए हेमके साथ छेड़-छाड़ करना उसने उचित न समझा।

"कब जाना चाहती हो?"

"अभी।"

"एक क्षण ठहरो।" वह गई और कुछ ही कालमें नोटोंका एक छोटा-सा पुलिंदा लेकर लौट आई।

"यह लो, काम आयगा।"—हेमकी ओर हाथ बढ़ाती हुई बोली।

"यह क्या है?"

"कुछ तुम्हारे वेतनके रुपए : और कुछ एक सखीकी भेंट।"

"सखी!"

"हाँ, जाओ सखी!" मालकिन के नेत्र छलछला आए—"ईश्वर तुम्हें इष्ट-सिद्धि प्रदान करे; पर एक बात न भूलना।"

"क्या?"

"इस घरके द्वार तुम्हारे लिए सदा खुले हैं।"

"इस कृपाको मैं जन्म-जन्मान्तर न भूलूँगी।" हेम नेत्र पोंछती हुई बोली—"परेशको मेरी ओरसे जी-भरकर प्यार कर लीजिएगा। जाते समय उसे देखने का साहस मुझमें नहीं है।"

हेमने हाथ जोड़कर नमस्कार किया और भारी डग भरती हुई घरसे बाहर निकल गई।

४

हेमने कलकत्तेकी गली-गली छान डाली; पर कहीं कुछ पता न चला। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता था, उसकी निराशा बढ़ती जाती थी। इस

भाँति एक महीना बीत गया। उसे समझमें नहीं आता था कि वह क्या करे। उसे चारों ओर घना अँधियारा दीख रहा था। आशाकी केवल एक रेखा उसके मनमें अटकी थी। चौरंगीवाली उस झीलपर जिस दिन फिर इन्द्रधनुष बनेंगे, उस दिन शायद उसका पता चले। इसलिए प्रतिदिन वह उस झीलके इर्द-गिर्द चक्कर काटने लगी।

एक दिन जब वह वहाँ पहुँची, तो झीलमें जलसंचारकी तैयारियाँ हो रहीं थीं। वह प्रसन्न हो उठी और पास ही पड़ी एक बेंचपर बैठ गई। सामने सूर्य के इर्द-गिर्द नृत्य करती हुई एक छोटी-सी बदली उस अग्निपिंडको अपना परिचय देनेका विफल प्रयत्न कर रही थी। वह बदली छिन्नभिन्न हो जाय, यह परम प्रभुसे वह प्रार्थना करने लगी। थोड़ी-सी देरमें सूर्यके प्रखर तापने बदलीको मानो भस्म कर दिया। टुकड़े-टुकड़े होकर वह विलीन हो गई। हेमका हृदय खिल उठा। अब अवश्य इन्द्रधनुष बनेंगे। वह शायद अपना खोया हुआ संसार पा जाय। पाइपोंसे पानी को धाराएँ निकलते ही उनके ऊपर सचमुच इन्द्रधनुष थिरकने लगे। लोग तो इन्द्रधनुष देखने में निमग्न हो गए और हेम लोगों के चेहरोंका निरीक्षण करने लगी। कोई लगभग आध घंटेकी प्रतीक्षाके अनन्तर उसकी आशा फलीभूत हुई। निःसन्देह वही भिखारी बालक उस झीलकी ओर बढ़ा आ रहा था; किन्तु उस दिन वह अकेला न था। उसके साथ एक स्त्री और एक पुरुष भी थे। उसे देखते ही वह व्यग्र हो उठी। उठकर तेज़ीसे उसकी ओर बढ़ने लगी, फिर एकाएक रुक गई। यदि वह सरोज न हुआ, तो यह उतावली उसे कितना लज्जित करेगी, यह सोचकर वह सँभली। धीरे-धीरे पग रखते हुए उनके पाससे निकल जाने का उसने निश्चय किया।

"एक पैसा, माँ!"—जब वह उनके पास पहुँची, तो बालकने एक हाथ बढ़ाकर गिड़गिड़ाते हुए कहा।

एक पैसा निकालकर उसने बच्चेके हाथपर रख दिया। फिर मुसकरा-

कर उसने भिखारिनकी ओर देखा और मधुसे ओतप्रोत स्वर में पूछा—"यह तुम्हारा बेटा है ?"

"हाँ, माँजी! ऐसे-ऐसे चार और थे कभी—अब तो यही एक रह गया है!"—भिखारिन रो पड़ी।

हेमने इस ओर ध्यान न दिया। उसके नेत्र तो बालकके चेहरेपर जमे थे। लड़केके माथेपर घावका चिह्न अवश्य था; पर उसकी आँखोंका वह रंग न था, जो उसे उस दिन दीखा था। तो क्या यह उसका सरोज नहीं है ? उसने फिर ग़ौरसे उस लड़केकी ओर देखा। बाएँ कन्धेसे उसकी कमीज़ फट रही थी, जिससे कन्धा और उसपर का एक बड़ा काला मस्सा साफ़ दीख रहा था। हेमकी दृष्टि से वह बच न सका। उसने सारे सन्देह दूर कर दिए। उसके सरोजके कन्धेपर वैसा कोई चिह्न न था। हेमका मन टूक-टूक हो गया। उसे ऐसा लगा जैसे उस मस्सेने गोली बनकर उसकी आशाओं की हत्या कर दी हो। एक आना निकालकर उसने भिखारिनको पकड़ा दिया और नेत्रों के आंसुओं से झगड़ती हुई वह अपनी बेंचपर आ बैठी।

अब ? तो इसके लिए उसे इतनी परेशानी उठानी पड़ी! अब वह करे तो क्या और जाय तो कहाँ ? यह ठीक है कि परेशके घर के द्वार उसके लिए खुले थे; किन्तु उधर जाना अब उचित न था। उसकी जगह किसी औरने अवश्य ले ली होगी। किसी के मुँह का कौर वह नहीं छीन सकती थी। फिर ?

•

सहसा उसने देखा कि सामने भीड़ से निकलकर एक पुरुष मुँहके कोने में सिगरेट दबाए उसकी ओर बढ़ा चला आ रहा है। जब वह ज़रा निकट पहुँचा, तो हेम आश्चर्य से उछल पड़ी—"तुम ?"

"हाँ, मैं ही।"—सिगरेटका एक बड़ा-सा कश खींचता हुआ वह बोला।

"सरोज कहाँ है ?"—धड़कते हुए दिल से हेमने पूछा।

"सरोज ?"—अखिल उसके पास बेंचपर बैठ गया। उसका हाथ दोनों

हाथों में लेकर कोमलतासे वह बोला—"उस पार। तुम्हारे जाने के बाद वह छः मास भी काट न सका।"

"मेरा सरोज!"—हेमका रोम-रोम रो उठा—"मुझे अब न मिल सकेगा?"

"नहीं।"—अखिलकी आवाज़ भी थिरक रही थी—"किन्तु तुम क्षमा के उस महान् आदर्श को यदि प्राप्त कर लो, जिसकी आशा करने का उसे कोई अधिकार नहीं, तो अखिल फिर तुम्हारे पाँवोंमें लोट सकता है।"

"नाथ।"—हेमने अपना सिर अखिल के वक्षस्थलकी ओर बढ़ाया; किन्तु फिर पीछे खींच लिया—"एक बाधा है।"

"वह दूर हो चुकी है।"

"कब?"

"सरोजकी मृत्यु के एक महीने बाद। तब से लेकर मैं तुम्हारी खोजमें मारा-मारा फिर रहा हूँ। सारा देश छान डाला। कलकत्ते में फिर लौटे तो अभी दस दिन हुए हैं। क्या तुम मुझे क्षमा कर सकोगी?"

"क्षमा! मैं तो तुम्हारी जन्म-जन्मान्तरकी दासी हूँ।"

हेमने अपना मुख अखिलकी छाती में छिपाकर उसे आँसुओंसे भिगो दिया। अखिलने देखा कि कुछ लोग इन्द्रधनुषों से मुँह मोड़कर उनकी ओर देख रहे हैं। वह झटपट उठ खड़ा हुआ और हेमको भी हाथका सहारा देकर खड़ा किया। कुछ ही दूरीपर एक टैक्सी खड़ी थी, हेमको लेकर वह उसी में आ बैठा।

"कहाँ चलना होगा?"—ड्राइवरने पूछा।

"कहाँ? लेककी तरफ़ चलो।"—ड्राइवरने मोटरको उसी ओर बढ़ा दिया।

"देखो, ये सात इन्द्रधनुष कितने सुन्दर हैं!"—अखिलने हेमका हाथ स्नेहसे दबाते हुए कहा।

"बहुत सुन्दर, मेरे जीवन-सर्वस्व!"—हेमने अपना सिर अखिलकी गोदमें रखते हुए जवाब दिया।

'गीता'

उस रात कई दिनों के बाद मेह बन्द हुआ था। बादल छिन्न-भिन्न होकर अदृश्य हो गये। निर्मल नीले आकाश में चाँद और तारे मुस्कराने लगे। प्रशान्त का हृदय खिल उठा। यदि प्रातः तक योंही खुला रहा तो वह सूर्योदय का दृश्य अवश्य देखेगा। यह निश्चय करके वह चारपाई पर पड़ गया। पहाड़ों का सूर्योदय भी कितना चित्ताकर्षक, कितना मनोरम होता है। काली पर्वत-श्रेणी से सूर्य इस शान से निकलता है जैसे कोई गोलाकार स्वर्णपोत श्याम सागर का वक्षस्थल चीर कर प्रकट हो रहा हो। यही सोचता-सोचता वह सो गया।

अभी पौ फटने में काफ़ी देर थी जब प्रशान्त की आँख खुल गई। खुली खिड़की से उचक कर बाहर झाँका। आकाश पर मेघ का एक टुकड़ा तक न था। उछल कर चारपाई से उठ बैठा और दस ही मिनट में तैयार हो लिया। उसके घर से कुछ ही दूर पर एक ऊँची पहाड़ी थी। उसी पर जाकर सूर्योदय देखने का उसने निश्चय किया। एक छड़ी हाथ में उठा कर चल पड़ा। चारों ओर शान्ति थी। चीड़ के वृक्षों से अठखेलियाँ करता मन्द पवन उसके साथ खेलता हुआ बह रहा था। कहीं-कहीं, कभी-कभी दो-एक पक्षी भी मधुर स्वर में कलरव करते हुए उसके पास से होकर उड़ जाते थे।

वह अभी आधा रास्ता भी तय नहीं कर पाया था कि उसके कान में किसी एकान्त बँगले से मधुर सङ्गीत का स्वर सुनाई दिया। वह कान खड़े करके वहीं ठहर गया। कोई बहुत तन्मय होकर मीरा का पद गा रहा था—'मैं तो गिरधर के रंग राती।' कण्ठ-स्वर किसी नारी का मालूम देता था। उस गीत में इतनी लोच थी, इतना आकर्षण था कि प्रशान्त के हृदय में हलचल छिड़ गई। जहाँ खड़ा था, वहीं से एक पगडण्डी उस बँगले तक जाती थी। मानो किसी जादू से प्रेरित उसके पग उस पगडण्डी पर उठ चले। वह दो ही क्षणों में बँगले तक जा पहुँचा। बँगले के बाहर एक बड़ा-

सा पत्थर पड़ा था, उसी पर बैठी एक लड़की मादकता बहा रही थी। आयु कठिनता से बीस वर्ष की होगी। रङ्ग गोरा, ललाट उन्नत, नेत्र आवश्यकता से अधिक बड़े। वह एक सफ़ेद साड़ी पहने थी, जिसमें उसका सुडौल शरीर खिल उठा था। वह बिलकुल प्रशान्त की ओर मुख किये बैठी थी। प्रशान्त दबे पैर बढ़ गया और मन्त्र-मुग्ध की भाँति उसे देखने लगा। लड़की ने प्रशान्त की ओर एक नज़र भी न देखा और अपने गीत में डूबी रही। प्रशान्त उसके इतना निकट था कि भूल कर भी वह उसकी नज़रों से बच न सकता था। इस अद्भुत व्यवहार से प्रशान्त को ज़रा विस्मय हुआ। उसने ध्यान से फिर लड़की की ओर देखा। उसके नेत्र खुले अवश्य थे; पर उनमें पूर्ण रूप से शून्यता छाई हुई थी, ज्योति का एक कण भी प्रकाशमान न था। ओहो, यह बेचारी तो नेत्रहीना है; सहसा उसके हृदय में ज्ञान का उदय हुआ। इससे उसे एक धक्का-सा लगा जिससे वह अपने स्थान से हिल गया। असावधानी से उठने के कारण उसके पाँवों के नीचे बिखरी पड़ी एक-दो टहनियाँ थोड़ा शब्द करती हुई टूट गईं। लड़की ने चौंक कर गीत बन्द कर दिया और सहसा बोल उठी—'कौन है, राजो ?'

'नहीं !'—बिना सोचे-समझे प्रशान्त ने जवाब दिया—'मैं एक अजनबी हूँ।'

'अजनबी !'—लड़की पहले तो थोड़ा डरी, फिर एक क्षण में ही सँभल गई—'तो आप भूल से इधर आ निकले हैं। यह रास्ता तो यहीं समाप्त हो जाता है !'

'मुझसे भूल हुई है।'—प्रशान्त ने कहा—'परन्तु मुझे इस भूल के लिए पछतावा नहीं।'

'क्यों ?'—बातचीत के प्रवाह में अनायास बह जाने के कारण ही शायद उस लड़की ने प्रश्न किया।

'इसलिए कि मैंने आज वह गीत सुना है जो शायद कभी भी भूल न सकूँगा।'—यह कह कर वह लौट पड़ा। लड़की ने कुछ जवाब न दिया।

केवल थोड़ा हँस दी। प्रशान्त कुछ ही गज बढ़ा था कि उसे ऐसा भ्रम हुआ कि उस लड़की ने एक दीर्घ निश्वास छोड़ा है। किन्तु अब तो उसने मुड़ कर देखना भी उचित न समझा और अपने रास्ते पर बढ़ता चला गया।

२

प्रशान्त की छुट्टी समाप्त हो रही थी, इसलिए वह तीसरे दिन ही नीचे चला गया। आरम्भ में तो कुछ दिन उस नेत्रहीना लड़की का मधुर स्वर प्रशान्त के कानों में गूँजता रहा और वे बड़े-बड़े शून्य नेत्र उसके स्मृति-पटल पर अङ्कित रहे। फिर स्मृति धुँधली होने लगी। आखिर वह उस लड़की को लगभग बिलकुल भूल गया और सच पूछो तो वह काम में इतना व्यस्त था कि उसे उन दिनों किसी बात का होश न था। इस भाँति एक वर्ष बीत गया।

उस दिन कोई साढ़े पाँच बजे के क़रीब वह कचहरी से लौटा। नौकर चाय का सामान रख गया। उसने एक प्याले में चाय डाली और छोटे-छोटे घूँटों द्वारा पीने लगा। इतने में उसे कहीं बहुत निकट से गाने का स्वर सुनाई दिया। उसके पड़ोसी नया रेडियो-सेट लाये थे। शायद उन्हीं का रेडियो किसी का स्वर वातावरण में बिखेर रहा था। स्वर कुछ परिचित-सा मालूम हुआ। उसने ध्यान से सुना। स्वर ही नहीं; बल्कि गीत भी परिचित था। उसी नेत्रहीना लड़की का स्वर था और वही मीरा का पद वह गा रही थी—'मैं तो गिरिधर के रंग राती।' सहसा भूली हुई सब स्मृतियाँ उसके मस्तिष्क में कौंध गईं। चाय के प्याले को तिपाई पर रख कर उठ खड़ा हुआ और ज़रा आगे बढ़ कर गीत सुनने लगा। गीत में वही तन्मयता थी—वही जादू था। उसके हृदय में सनसनी की एक लहर दौड़ गई।

उसे यों खड़े-खड़े कुछ ही क्षण बीते थे कि किसी ने रेडियो के साथ छेड़-छाड़ की। सहसा लड़की का स्वर बन्द हो गया और उसके स्थान पर सजनी, साजन और प्रेम-नगर का एक भद्दा गीत प्रशान्त के कानों में पड़ने लगा। वह खीझ कर अपने स्थान पर जा बैठा। चाय का प्याला उठा लिया; क्योंकि वह अब तक बिलकुल ठण्डा हो चुका था, उसे एक ही घूँट में पी

गया। फिर गहरे सोच में डूबा हुआ कमरे में टहलने लगा।

उस लड़की को देखने की, मिलने की एक उत्कट इच्छा एकाएक उसके हृदय में उत्पन्न हो उठी। पास की कुर्सी पर पड़े हुए अखबार को उठा कर उसके रेडियो-पृष्ठ का निरीक्षण करने लगा। दो ही मिनट में उसे पता चल गया कि वह लड़की लाहौर से गा रही थी और उसका नाम था कुमारी गीता। अगले दिन प्रातः काल रेडियो पर काम करने वाले एक मित्र द्वारा उसका पता भी मालूम हो गया। वह शहर के प्रसिद्ध नागरिक प्रोफ़ेसर कृष्णमोहन की भतीजी थी और अपने माता-पिता को खो देने के कारण कुछ ही दिन हुए लाहौर आई थी।

कॉलेज के दिनों में प्रशान्त प्रोफ़ेसर कृष्णमोहन का चहेता विद्यार्थी था। प्रोफ़ेसर के घर में उसका आना-जाना बेरोक-टोक था। हाँ, जब से वह पढ़ाई छोड़ कर नौकरी के झंझट में फँसा था, तब से उसका उधर जाना न हो सका था। लेकिन इससे क्या। वह जानता था कि वह जब कभी भी उनके यहाँ जायगा प्रोफ़ेसर साहब हँसते मुख से उसका स्वागत करेंगे! इसलिए उसी शाम उसने प्रोफ़ेसर के घर जाने का निश्चय कर लिया।

कचहरी से लौटने पर वह सीधा प्रोफ़ेसर की कोठी पहुँचा। सौभाग्य से वे कोठी के बाहर लॉन में बैठे थे और उनके पास गीता के सिवाय और कोई था भी नहीं। प्रशान्त को देख कर वे प्रसन्नता से उछल पड़े। गद्‌ गद्‌ स्वर में बोले—'आओ प्रशान्त, तुम कहाँ से भूल पड़े?'

प्रशान्त ने उन्हें नमस्कार किया। प्रोफ़ेसर ने आगे बढ़ कर उसे बग़ल में ले लिया और प्यार से साथ वाली कुर्सी पर बिठाते हुए गीता से उसका परिचय कराया।

'इनका स्वर मुझे कुछ परिचित मालूम देता है।'—गीता के मुख से सहसा निकला।

'परिचित!'—प्रोफ़ेसर ने आश्चर्य से प्रशान्त की ओर देखा।

इतने में प्रोफ़ेसर की छोटी लड़की भागती हुई आई।

'क्यों ?'—प्रोफ़ेसर ने पूछा।

'मामा बुला रही है। बहुत जरूरी काम है।'

'मैं अभी आता हूँ।'—यह कहते हुए वे उठकर उतावली से कोठी की ओर बढ़ने लगे।

'क्या मैं भूल कर रही हूँ ?'—गीता ने फिर प्रश्न किया।

'भूल ! मुझे तो यह आश्चर्य है कि वह क्षणिक भेंट आपको याद कैसे रही। आपकी स्मरण-शक्ति सचमुच अद्भुत है।'

'जीने के लिए हम लोगों को कहीं तो कुशलता प्राप्त करनी ही पड़ती है !'—उसके स्वर के पीछे करुणा की एक झलक थी। उसे ही छिपाते हुए शायद वह हँसी—'भला हमारी भेंट कहाँ हुई थी, क्या आप बता सकते हैं ? वह मैं भूल चुकी हूँ।'

'हम मसूरी में मिले थे।'

'हाँ, अब याद आ गया। आप राह भूल कर हमारी कोठी की ओर चले आये थे।'

प्रशान्त ने कुछ सोचते हुए आधे क्षण के लिए उस लड़की के चेहरे की ओर देखा और संयत स्वर में बोला—'आज ठीक-ठीक कहूँगा। मैं भूल कर नहीं; बल्कि जान-बूझ कर ही आपकी कोठी की ओर गया था।'

'क्यों ?'

आप के गीत से खिंचा हुआ। और आज भी प्रोफ़ेसर साहब से मिलने नहीं आया; बल्कि आप को बधाई देने आया हूँ। मैंने कल रेडियो पर आपका गीत सुना था।'

'सच !'—लड़की का चेहरा खिल उठा। मुसकराती हुई कहने लगी—'तब तो मैं बहुत बड़ी कलाकार बन रही हूँ।'

'निस्संदेह।'

गीता कुछ देर चुप रही। अपने मस्तक पर हाथ फेरती रही। फिर

सहसा उसके मुख से निकला—'किन्तु इस सब कुछ से लाभ क्या ?'

'किससे ?'

गीता ने इसका कुछ उत्तर न दिया। बात टालती हुई बोली—'क्या आप यहीं रहते हैं ?'

'हाँ, यहीं रहते हैं और लोगों को जेल में डलवाने का काम करते हैं।'—प्रोफ़ेसर कृष्णमोहन जो उनकी ओर बढ़े चले आ रहे थे, बीच में बोल उठे।

तीनों खिलखिला कर हँस पड़े।

'तो आप मैजिस्ट्रेट हैं।'—'गीता शरारत से बोली—'तब तो आप से डरना चाहिए।'

'क्या डरना बहुत जरूरी है ?'—अर्द्धगम्भीरता से प्रशान्त ने पूछा।

'कोई बहुत जरूरी तो नहीं।

'तो भय का नाम न लो नहीं तो........

'नहीं तो क्या ?'—अब की बार प्रोफ़ेसर ने पूछा

'कुछ नहीं।'—प्रशान्त उठ खड़ा हुआ—'अब चलता हूँ।'

'इतनी जल्दी ?'

'फिर कभी आऊँगा।'

प्रशान्त ने नमस्कार किया भी और कहा भी। फिर तेजी से चल दिया।

'खूब लड़का है।'—प्रोफ़ेसर बोले।

गीता चुप रही। तब तक प्रशान्त लॉन पार कर कोठी की सड़क पर जा पहुँचा था। वहाँ से उसकी पग-ध्वनि गीता को बिलकुल साफ़ सुनाई दे रही थी। उसके सुनने की तल्लीनता में ही प्रोफ़ेसर द्वारा कहा हुआ वाक्य गीता के मस्तिष्क में प्रवेश न पा सका था। प्रोफ़ेसर ने एक बार उसकी ओर देखा, फिर उठ कर लॉन में टहलने लगे।

३

दो मास बीत गये। इस अवधि में प्रशान्त कई बार प्रोफ़ेसर के यहाँ गया और दिन-प्रतिदिन वह और गीता एक दूसरे के निकट—निकटतर होते गये। प्रशान्त के हृदय में गीता के प्रति सच्ची सहानुभूति थी और गीता प्रशान्त के लिए बहुत ही श्रद्धा के भाव रखती थी; इस में तो कोई सन्देह नहीं था। लेकिन बात इससे आगे बढ़ी थी या नहीं; लाख हृदय टटोलने पर भी ये दोनों निश्चय न कर पाते थे। क्या वे एक दूसरे को बाँध सकते हैं? उन्हें बाँधना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर दोनों में से किसी को भी न मिलता था। गीता चाहती थी कि वह सदा प्रशान्त के चरणों में पड़ी रहे और उसकी चरण-रज माथे से लगाती रहे। पर केवल चरण-रज से कहीं भी पहुँचा न जा सकता था। जीवन सुखद बनाने के लिए तो उसे यथार्थ में प्रशान्त की सखी बनना होगा—प्रशान्त की सखी। उस जैसी तुच्छ व्यक्ति यह साहस कैसे पकड़ सकेगी!

प्रशान्त की इच्छा थी कि प्रकृति द्वारा गीता पर किये हुए अन्याय का किसी तरह निवारण करे; पर क्या केवल मधुर भाषण और जी बहलाने के प्रयासों से यह सम्भव था। इस के लिए उसे गीता को अपनी छत्र-छाया में ही नहीं लेना होगा; बल्कि अपना अपनत्व भी अर्पण करना होगा। ऐसा करने के लिए जिस चिनगारी की ज़रूरत है, उसकी प्रतीक्षा में वह बैठा था।

उधर वह अनुभवी प्रोफ़ेसर उत्सुकता से इस नाटक का विकास देख रहा था। यद्यपि उसे कोई कुछ न बतलाता था, पर उसकी पैनी दृष्टि में इन दोनों का असमञ्जस छिपा न था। छोटे-मोटे सङ्केतों द्वारा वह दोनों को प्रोत्साहन दे रहे थे। गीता को पार लगाने का जो गुरुतर उत्तरदायित्व विधि ने उसके कंधों पर रखा था, गीता के प्रति स्नेह का भाव रखते हुए भी वह उससे प्रसन्न नहीं था। यदि वही उत्तरदायित्व प्रशान्त उठा ले तो कितना अच्छा हो। भावावेष में आकर भी यदि प्रशान्त गीता को अपना

ले तो शारीरिक दोष होने के अतिरिक्त भी वह अपने अन्य गुणों के द्वारा उसे अवश्य सँभाल लेगी; इस का उसे पूर्ण विश्वास था।

दिन पर दिन बीतने लगे। एक मास और गुज़र गया। वसंत ने पवन में जादू भर दिया था। पुष्पों की मन्द महक चारों ओर फैल रही थी। हरियाली में पक्षी भी इधर-उधर चहकते फिरते थे। वातावरण का यह अलबेलापन प्रशान्त और गीता दोनों के हृदयों को छू गया। उनका असमंजस जाता रहा। दोनों ने एक दूसरे पर सर्वस्व समर्पण करने का निश्चय कर लिया।

इससे अगले दिन ही प्रशान्त प्रोफ़ेसर के पास पहुँचा। प्रोफ़ेसर अपनी लायब्रेरी में बैठे कुछ नई आई पुस्तकों का अवलोकन कर रहे थे। मुस्करा कर प्रशान्त का स्वागत किया—'आओ प्रशान्त, कैसे आये हो?'

प्रशान्त ने कुछ जवाब न दिया। मेज़ पर पड़ी पुस्तकों में से एक किताब को उठा लिया। आधा क्षण उलट-पलट कर उसका निरीक्षण किया—फिर झिझकता हुआ बोला—'एक विशेष बात कहना चाहता हूँ।'

'कहो!'

'यह तो शायद आप जानते हैं कि मैं गीता को बहुत चाहता हूँ।'—उसने कहना आरम्भ किया—'मेरी इच्छा है कि मैं उसे अपनी······'

प्रशान्त रुक गया। प्रोफ़ेसर की ओर इस तरह देखने लगा मानो भाव-प्रदर्शन से ही अपना आशय समझाना चाहता हो।

'मैं समझ गया। मैं इसे अपना सौभाग्य समझूँगा। किन्तु······'

'किन्तु क्या?'—प्रशान्त का हृदय धड़कने लगा।

'गीता से भी तो पूछना होगा।'

'उससे मैं पूछ चुका हूँ।'

'तो मेरा आशीर्वाद लो।'—प्रोफ़ेसर पुलकित स्वर में बोले—'एक बात और।'

'कहिए!'

'बिलकुल सच-सच बताओ कि कहीं तुम्हारी सहानुभूति ने ही तो प्रेम का रूप नहीं धारण कर लिया ?'

प्रशान्त कुछ देर चुप रहा। गहरे सोच में डूबा रहा। फिर बोला—'निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकता, परन्तु यदि आज सहानुभूति से प्रेरित हो कर ही सब कुछ कर रहा हूँ तो कल मैं गीता को प्रेम करना अवश्य सीख लूँगा। इसका मुझे पूरा भरोसा है।'

'अवश्य सीख लोगे मैं जानता हूँ।'

'क्या सीख लोगे !'—गीता पता नहीं कहाँ से आकर उनके सम्मुख खड़ी हो गई।

दोनों पुरुष एक क्षण के लिए सन्नाटे में आ गये। फिर प्रोफ़ेसर ज़रा साहस करके बोले—'कुछ ख़ास बात नहीं थी।'

'बहुत अच्छा !'—गीता होंठों को बल देकर मुस्कराई।

'अब मैं चलता हूँ।'—प्रशान्त ने कहा और चुपके से कमरे से बाहर चला गया।

प्रशान्त के पीछे-पीछे ही गीता भी चल दी और रास्ता टटोलती हुई अपने कमरे में आ पहुँची। वहीं एक आराम कुर्सी पर चुपके से जा पड़ी। उसके मन में भावों का एक सागर लहरा रहा था; किन्तु वह कुछ सोचना न चाहती थी। उसने आँखें मूँद लीं और अपने आपको विस्मृत में खो देने का प्रयत्न करने लगी। परन्तु कहाँ ? विचारों की आँधी उसे कैसे चैन लेने देती। यही नहीं, बल्कि प्रकृति भी उसके साथ अन्याय करने लगी। उसके कमरे की एक खिड़की वाटिका में खुलती थी। उसमें से हवा के झोंके आ-आ कर उसके बालों से छेड़-छाड़ करने लगे। फुलवारी में पता नहीं कहाँ से आ कर कुछ पक्षी कर्ण-कटु स्वर में चिल्लाने लगे। वह दाँत पीसती उठी और ज़ोर से खिड़की बन्द कर दी। फिर अपनी कुर्सी पर आ बैठी।

तो उन्हें मुझ से प्रेम नहीं, सहानुभूति है। वे मुझे दया की भीख

देने जा रहे हैं। विचारों के बाँध टूट चले। प्रेम हो ही कैसे सकता है? मैं अंधी, वे सर्वांग सुन्दर। मैं क्षुद्र, वे महान्! यह उनकी उदारता है जो मुझे अपनाना चाहते हैं। परन्तु मैं अनुचित लाभ नहीं उठाऊँगी। मैं उनके राह का काँटा नहीं बनूँगी। वे मुझे प्रेम करना सीख लेंगे। कौन सीख सकता है मुझ अभागिन को प्रेम करना। नहीं, मैं उन्हें बन्धनों में नहीं बाँधूँगी। किन्तु मेरा सपना! मैंने यह सपना क्यों देखा, जो बनते ही बिगड़ गया। मेरा सपना कितना सुन्दर था—सुखद था। गीता के बड़े-बड़े नेत्रों से आँसू बहने लगे। उसने उन्हें रोका नहीं अविरल गति से बहने दिया। और वे बहते चले गये। वह यों ही बहुत देर पड़ी रही और पता नहीं कब तक पड़ी रहती यदि बाहर से उसके कमरे की ओर बढ़ते हुए किसी की पद-आहट उसे सुनाई न दे जाती। आहट सुन कर वह चौंकी और झटपट नेत्र पोंछ, सँभल कर बैठ गई।

'गीता!'—प्रोफेसर ने कमरे में घुसते हुए पुकारा।

'जी!'

'तुम यहाँ अकेली क्यों बैठी हो?'—प्रोफेसर ने बिजली के बटन को दबा दिया। कमरा प्रकाशमान हो उठा। बिजली की ज्योति में गीता के चेहरे पर की चिन्ता के चिह्न छिपे न रह सके। प्रोफेसर ने सब कुछ देखा; किन्तु चुप रहे।

'कुछ थकान मालूम देती थी। इसलिए सुस्ताने के लिए यहाँ आ गई थी।'—गीता अपने मनोभावों को दबाती हुई बोली—'कुछ विशेष बात थी क्या?'

'कोई ऐसी विशेष तो नहीं; किन्तु प्रशान्त आया था।'

'फिर आये थे? क्या लौट गये?'

'यह समझ कर कि तुम आराम कर रही हो, वह जा तो रहा था, पर मैंने उसे रोक रखा है।'

'वे कहाँ बैठे हैं?'

'लायब्रेरी में। मैं छोड़ आऊँ ?'

'नहीं, मैं चली जाऊँगी।

गीता जब लायब्रेरी में पहुँची तो बिलकुल सँभल चुकी थी। उसके होठों पर मुस्कान खेल रही थी और आँसुओं के चिह्न बहुत कुछ मिट चुके थे। हाँ, हृदय में अभी तक वही बवण्डर मचा था।

'बहुत अच्छा हुआ जो आप स्वयं आ गये!'—गीता ने कमरे में घुसते हुए कहा—'नहीं तो किसी को लेकर मुझे खुद आपके यहाँ जाना पड़ता।'

'क्यों ?'

'विदा लेने के लिए।

'विदा!'—प्रशान्त ने चकित स्वर में पूछा—'विदा कैसी ?'

'मैं कल जा रही हूँ।'

'जा रही हो! कहाँ ?'—प्रशान्त के आश्चर्य का ठिकाना न था।

'मसूरी।'

'मसूरी! अभी से! कौन-कौन जा रहा है ?'

'मैं और राजो।'

राजो उसकी नौकरानी थी।

'तुम और राजो। मतलब ?'

'मतलब!'—अपने रुंधते हुए गले को सँभालती हुई वह कहने लगी—'यही कि अब यहाँ रहना नहीं चाहती। रह नहीं सकती।'

'कारण ?'—प्रशान्त की आवाज़ थिरक उठी। वह अपने ऊपर प्रभुत्व पाने में अब असमर्थ हो रहा था।

'कारण आपसे छिपाऊँगी नहीं।'—गीता की वाणी में जो करुणा आ चली थी उसे छिपाने का प्रयत्न उसने छोड़ दिया—'मेरा एक मधुर स्वप्न ही बन कर नहीं बिगड़ गया; बल्कि हृदय की शान्ति भी खो बैठी हूँ। स्वप्न तो अब मिलने से रहा, पर शान्ति शायद उस वातावरण में मिल

जाय। इसलिए जा रही हूँ।'

'यदि तुम प्रयास करतीं तो उस स्वप्न को शायद यथार्थता में परिणत कर लेतीं।'

'शायद !'—गीता सूखी हँसी हँस कर बोली—'शायद नहीं कर पाती। विकृत मस्तिष्क ठीक हो सकता है; पर टेढ़े हृदय को कौन सीधा कर सकता है ?'

प्रशान्त चुप रहा। गीता की ओर देखता रहा, फिर उठ कर टहलने लगा। कुछ क्षणों बाद अपनी जगह पर आ बैठा और बोला—'गीता, मैं क्या जवाब दूँ; समझ में नहीं आता।'

'मैं जवाब नहीं माँगती, आपका आशीर्वाद चाहती हूँ।'—गीता ने अपने उमड़ते हुए आँसुओं को रोकते हुए कहा। उसका स्वर भक्ति से ओत-प्रोत था।

प्रशान्त विकल हो उठा। परिस्थिति की विषमता ने उसके हृदय में हलचल छेड़ दी। वहाँ ठहरना उसके लिए असम्भव हो गया—'अब आज्ञा चाहता हूँ। प्रात: फिर आऊँगा।'

वह तीर की तरह कमरे से बाहर हो गया।

दूसरे दिन सुबह जब वह प्रोफेसर की कोठी पर पहुँचा तो गीता स्टेशन के लिए चल चुकी थी। अपने चाचा के लाख रोकने पर भी उसने मसूरी जाने का निश्चय कर लिया था। प्रशान्त मोटर को तेजी से चलाता हुआ स्टेशन की ओर भागा। सौभाग्य से जब वह वहाँ पहुँचा तो गाड़ी अभी खड़ी थी, चलने का उपक्रम ही कर रही थी। गीता खिड़की से सिर निकाल कर अपने चाचा से बातें कर रही थी।

'प्रशान्त आया है !'—प्रोफेसर ने उसे देख कर कहा।

गीता ने मुस्करा कर उसका स्वागत किया—'आप खूब समय पर आये हैं।'

'हाँ, यह मेरा सौभाग्य है कि अभी तक गाड़ी नहीं छूटी।'

इतने में गाड़ी चलदी। गीता ने हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए दोनों से विदा ली और जब तक गाड़ी प्लेटफ़ार्म से काफ़ी दूर नहीं निकल गई वह खिड़की से सिर निकाल कर मुस्कराती रही। जब उसे विश्वास हो गया कि वह उन दोनो की आँखों से ओझल हो गई है तो अपने स्थान पर हथेली पर सिर रख कर बैठ गई।

'बीबी एक बात पूछूँ ?'—राजो बोली। गाड़ी के डिब्बे में उन दोनों के सिवाय कोई नहीं था।

'पूछो !'

'आप यहाँ से चली क्यों जा रही हैं ?'

राजो उनकी बहुत पुरानी दासी थी।

गीता आधा क्षण चुप रही, फिर एक सर्द आह लेकर बोली—'राजो, यदि तुमने किसी स्थान पर अपनी आकांक्षाओं का एक सुनहला संसार बसाया हो और यदि दुर्भाग्य की हवा का एक ही झोंका आकर उसे छिन्न-भिन्न कर दे तो क्या वह स्थान तुम्हें काटे नहीं खायेगा। क्या तुम वहाँ रह सकोगी ?'

'नहीं !'

'तो मेरा भी ऐसा ही संसार यहाँ उजड़ गया है। इसलिए जा रही हूँ।'—यह कहते-कहते गीता का गला भर आया। उमड़े आँसुओं को छिपाने के लिए उसने सिर खिड़की से बाहर निकाला। पृथ्वी पर गिरवे उसके आँसुओं को पीछे छोड़ती हुई गाड़ी निर्दयता से उड़ी जा रही थी।

अनबन

चाँद की चांदनी तो अवश्य चारों ओर फैल रही थी; पर हवा का नामोनिशान तक न था। इसलिए शोभा का एक वर्षीय बच्चा बार-बार बिलबिला उठता था। शोभा घड़ी-घड़ी जाग पड़ती और उसे सुलाने का

प्रयत्न करती, पर सब व्यर्थ था। गर्मी उसकी एक न चलने देती थी। कोई दो बजे के लग-भग वह चारपाई से उठ बैठी। बच्चे को गोद में लेकर कुछ देर इधर-उधर टहलती रही और फिर रुक गई। उसकी आँखों में नींद भर रही थी। पास की चारपाई पर उसका पति अतुल मज़े में सो रहा था। वह आधा क्षण उसकी ओर देखती रही और फिर बालकको उसके ऊपर पटक दिया।

अतुलने चौंककर आँखें खोलीं और खीझकर बोला—'इसका क्या मतलब ?'

'किसका ?—शोभा के नेत्रों में चुनौती थी।

'बच्चे को मेरे ऊपर क्यों पटका है ?'

'इसलिए कि अब उसे तुम सँभालो। थोड़ी देर मैं भी तो सो लूँ।'

'मैं सभालूँ ?'—रोते हुए बच्चे को बेपरवाही से एक ओर हटाते हुए अतुल ने आँखें फाड़कर पत्नी की ओर देखा—'अच्छा, यह बात है! दिन भर दफ्तर में पिसूँ और रात को तेरे बच्चों का टहलुआ बनूँ। खूब !'

'तो क्या मैं ही दिन-रात की नौकरानी बनने के लिए हूँ।' शोभा की वाणी खड्ग की धार सी तीखी हो चली—'सारा दिन चौके में जलती रहूँ, झाड़ू लेकर घर भर की खाक छानती रहूं और रात जागकर काटूँ। खूब !'

'जिसका जो काम है, वह उसे करना ही होगा।' अतुल ने कटु स्वर में कहा।

'मेरा जो काम है, मैं जानती हूँ। आखिर यह बच्चा तुम्हारा भी तो है। तुम्हें भी रात का आधा समय इसे सँभालना होगा।'

'मुझे सँभालना होगा ?'

'हाँ।'—शोभा की गर्दन पेंठ गई।

'देखो, होश से बातें करो।'—अतुल की वाणी थिरकने लगी।

'मैं बेहोश नहीं हूँ।'—शोभा विष से बुझे हुए स्वर में बोली—'मेरे ऊपर रोब न गाँठो। जब से तुम्हारे घर में आई हूँ, एक दिन का चैन नहीं।

मैं कोई अपढ़ गँवार नहीं हूँ। मैंने भी तुम्हारी ही तरह उच्च शिक्षा पाई है। मेरे पिताजी के घर में आज भी मोटरें और नौकर हैं। मेरे साथ वाली सभी राज कर रही हैं, और एक मैं अभागी हूँ कि सारा दिन जानवरों की तरह परिश्रम करने पर भी तुम्हारी घुड़कियाँ ही सहनी पड़ती हैं।'

'तुम अभागी हो ? तुम्हारे यहाँ नौकर नहीं ?'

'हाँ, अभागी नहीं तो और क्या ?'—शोभा क्रुद्ध सिंहनी की भाँति गरजी—'तुम्हारे जैसे मनुष्य के साथ बँधकर कौन अपने भाग्य को नहीं रोएगा और उस छोकरे को तुम नौकर कहते हो ?'

अतुल क्रोध से पागल हो उठा। उसके ओंठ काँपने लगे। नेत्र अंगारे की तरह लाल हो गए। हाथों की मुट्ठियाँ बँध-सी गईं। हत्यारी आँखों से पत्नी की ओर देखता हुआ बोला—'जी तो चाहता है, तुम्हारी यह ज़बान खींच लूँ।'

यह कहकर उसने तेज़ी से अपना हाथ तकिए के नीचे बढ़ाया, मानो वहाँ से कोई ज़बान खींचनेवाला अस्त्र निकालने जा रहा हो। शोभा उत्सुकता से तकिए के नीचे घुसे हाथ के बाहर आने की प्रतीक्षा करने लगी। कोई आधे मिनिट के अनन्तर हाथ बाहर निकल आया। वह कोई अस्त्र नहीं, बल्कि सिगरेट-केस और दियासलाई की डिबिया पकड़े हुए था। कुछ देर अधिक शायद इसलिए लग गई कि दियासलाई की डिबिया इधर-उधर हो गई थी।

शोभा खिलखिला कर हँस पड़ी। उसकी हँसी व्यंग्य से ओतप्रोत थी; किन्तु अतुल ने इसकी ज़रा भी परवाह नहीं की। एक सिगरेट निकाल कर उसने सुलगाया और फिर उसके कश खींचते हुए स्वप्निल नेत्रों से पत्नी की ओर देखने और चारपाई पर पड़े चिल्लाते हुए बच्चे को थपथपाने लगा।

शोभा ने कुछ सेकेंड दार्शनिक की-सी दृष्टि से अपने पति की ओर देखा और संतोष की एक साँस लेकर अपनी चारपाई पर जा लेटी।

२

पास के पीपल के वृक्ष-निवासी कुछ पक्षियों के झगड़े ने अतुल की अर्ध-सुषुप्ति को तोड़ कर उसे चैतन्य कर दिया। वह हड़बड़ाकर उठ बैठा। अपने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। शोभा उठकर जा चुकी थी; किन्तु बालक अतुल की चारपाई पर मजे में सो रहा था। एक सिगरेट सुलगाकर उसके कश खींचते हुए अतुल छतपर टहलने लगा। रात की दुर्घटना एक कटु स्वप्न की भाँति उसके मस्तिष्क में हलचल मचाने लगी। आज बच्चे को उस की चारपाई पर पटका गया है, कल शायद उस के हाथ में झाड़ू पकड़वाकर कूड़ाककंट साफ़ करने तथा रसोईघर में चूल्हा फूँकने की आज्ञा होगी। नहीं, उससे यह सब कुछ न हो सकेगा। उसके शरीर का एक-एक अंग इस स्थिति के विपरीत विद्रोह कर उठा। धुएँ के बादल उड़ाता हुआ वह टहलने लगा और सोचने लगा और सोचता हुआ टहलने लगा। इस तरह लगभग पन्द्रह मिनट बीत गए। सहसा उसके नेत्र चमक उठे। ऐसे प्रतीत होता था, मानो उसकी उलझी हुई गुत्थी सुलझ गई हो।

वह तेज़ी से नीचे की ओर भागा और उड़ता हुआ बैठनेवाले कमरे में जा पहुँचा। शोभा एक सोफ़े पर अधलेट-सी पड़ी थी। हाथ में एक उपन्यास था, जिसे पढ़ने में वह तन्मय थी। उसने पुस्तक से दृष्टि हटाकर पति की ओर देखा। एकाएक उसके ओठों पर हलकी-सी एक मुसकान नाच उठी, जिसमें विजय और दम्भ छिपाए भी न छिपते थे। मधु से ओतप्रोत स्वर में वह बोली—'जग गए हो!'

'हाँ,'—अपने ऊपर काबू पाने की कोशिश करते हुए उसने जवाब दिया—'चाय का क्या हाल है?'

'तुम्हारा नौकर तैयार कर रहा होगा। इस उपन्यास के कुछ पृष्ठ कल बच रहे थे, मैं उन्हें ही समाप्त करने में लगी थी।'

'तुम अपना स्थान जानती हो,'—अतुल दाँत पीसता हुआ बोला—'उपन्यास-जगत में नहीं, बल्कि...।'

'रसोईघर में है।'—शोभा ने ओंठों को बल देकर अतुल का वाक्य समाप्त किया और तनकर बैठ गई।

'निःसन्देह।'—अतुल के स्वर में दृढ़ता थी।

'मैं इस अर्द्ध-सत्य को मानने के लिए तैयार नहीं। मैं तुम्हारे साथ सहमत नहीं हो सकती।'

'इसीलिए'—अतुल शोभा के नेत्रों को चीरता हुआ कहने लगा—'मैंने एक निश्चय किया है।'

'क्या?'—शोभा उत्सुक हो उठी।

'यही कि तुम और मैं इकट्ठे नहीं रह सकते।'

कुछ व्यंग्य और कुछ उपहास-मिश्रित स्वर में शोभा ने कहा—'तो तुम पाँव की ठोकर लगाकर मुझे घर से बाहर निकालना चाहते हो?'

'नहीं, यह अन्याय होगा।'

'तो क्या तुम स्वयं सब कुछ छोड़-छाड़कर चल देना चाहते हो?'

'नहीं, यह कायरता होगी।'

'फिर?'—शोभा की वाणी से व्यंग्य और उपहास छूमंतर हो गए। साँस रोककर वह पति के उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी।

'मैं इस मकान को दो भागों में बाँटने जा रहा हूँ।' अतुल के स्वर की गम्भीरता वातावरण तक में फैल रही थी। 'एक में तुम रहोगी और एक में मैं।'

'और बच्चा?'

'वह तुम्हारे साथ रहेगा। मेरा नौकर मेरे साथ रहेगा क्या तुम्हें यह स्वीकार है?'

स्वीकार! यह क्रूर प्रस्ताव! शोभा के हृदय में मानो किसी ने पैनी कटार चुभो दी हो। चार वर्ष के वैवाहिक जीवन में उसका पति के साथ कई बार झगड़ा हुआ था; किन्तु बात बिगड़कर सदा बन जाती थी। उसका खयाल था कि रातवाला झगड़ा भी दो-चार उल्टी-सीधी बातों के गोरख-

धंधे में विलीन हो जायगा। वह यह न जानती थी कि उसको लेकर यह विषम परिस्थिति उत्पन्न कर दी जायगी। उसके मन में भावों का एक बवंडर खड़ा हो गया। अब वह करे तो क्या करे? पति के सम्मुख गिड़गिड़ाने से तो वह भी रही। आखिर उसका भी कुछ आत्माभिमान है। आँखों में उमड़ते हुए आसुओं को रोकते हुए उसने शान्त सहज वाणी में कहा—'हाँ,' मुझे स्वीकार है।

फिर उठकर तीर की तरह चली गई।

३

इससे दो ही तीन रोज बाद मकान दो हिस्सों में बँट गया। एक में अतुल अपने नौकर को लेकर रहने लगा और दूसरे में अपने बच्चेको लेकर शोभा। शनैः-शनैः दोनोंके हृदयों के बीच भी एक दीवार खिंच गई। हाँ, केवल एक बात थी, जो इस दीवार को स्थायी रूप देने से बचाती चली आ रही थी। शोभा और उसके बच्चे के व्यय का भार अभी तक अतुल ही उठा रहा था। किन्तु शोभा की यह स्थिति संतोषप्रद प्रतीत नहीं होती थी। पति से अलग होने के दिन से ही वह इस बन्धन से भी मुक्त होने के लिए छटपटा रही थी। कन्या-विद्यालयों में तो उसे जगह मिलती थी; पर उसे बच्चे पढ़ाने का काम पसन्द न था। तीन मास इसी भाँति बीत गए।

फिर उस नगर में रेडियो-स्टेशनकी स्थापना हुई और अच्छी आवाज की बदौलत शोभा की वहाँ नियुक्ति हो गई।

शोभा अभी रेडियो-स्टेशन से लौटी थी। एक अद्भुत उल्लास के साथ वह उन सौ रुपए के नोटोंको बेपरवाही से अपने बच्चे के पास पलंग पर फेंककर उससे खेलने लगी। इतने में अतुल के नौकरने प्रवेश किया।

'क्यों?'

'साहबने चिट्ठी दी है।'—उसने लिफ़ाफ़ा जेबसे निकालकर शोभा की ओर बढ़ा दिया।

उस पत्रमें क्या है, शोभा खूब समझती थी। फिर भी हाथ बढ़ाकर

उसने लिफ़ाफ़ा पकड़ लिया और उसे उतावली से खोल डाला। उसमें कुछ नोट थे और एक छोटा-सा पुर्ज़ा। 'इस महीने का खर्च भेज रहा हूँ।'—पुर्ज़ेपर लिखा था।

शोभा कुछ देर उस काग़ज़ के टुकड़े की ओर देखती रही, फिर उसके टुकड़े २ कर दिए। नोटों को उसी लिफ़ाफ़े में डालकर लौटाने लगी, फिर रुक गई। निकट ही तिपाईपर नए लिफ़ाफ़े पड़े थे। उनमें से एक उठाकर बड़े ढंग से उसमें नोट रखे फिर एक काग़ज़ का टुकड़ा पकड़ कर जम्पर के गले से लगी क़लमको खींचकर उस पर लिखा—'धन्यवाद-सहित वापस।' उसे भी लिफ़ाफ़े में बन्द कर दिया।

'यह अपने साहब को दे देना।'—लिफ़ाफ़ा नौकर को पकड़ाती हुई वह बोली, फिर मुँह मोड़कर पलंग पर पड़े नोटों को उठाकर अपने बच्चे के इर्द-गिर्द बिखरा दिया और मुसकराने लगी।

नौकर आधा क्षण आँखें फाड़-फाड़कर उसकी ओर देखता रहा, फिर चुपके से बाहर हो गया।

४

मकान की छतपर अतुल एक आरामकुर्सी पर अधलेटा-सा पड़ा था। सामने वृक्ष से छनकर चन्द्रमा की कुछ रश्मियाँ उसे अर्द्ध-प्रकाशित कर रही थीं। कभी-कभी कहीं दूर से किसी पक्षी का करुण स्वर भी सुनाई दे जाता था, जो अतुल के मस्तिष्क में भावों का एक तूफ़ान उत्पन्न कर देता था। क्या जाने उस पक्षी को क्या कष्ट है? कौन कह सकता है, उसकी वेदना शारीरिक है या मानसिक! अतुल कुर्सीसे उठ खड़ा हुआ। चाँद की ओर एक बार देखा, फिर बेचैनी से छतपर टहलने लगा।

इतने में लिफ़ाफ़ा हाथ में पकड़े हुए नौकरने प्रवेश किया।

'यह क्या है?'—लिफ़ाफ़े की ओर संकेत करते हुए अतुल ने पूछा।

'बीबीजी ने दिया है।'—नौकरने लिफ़ाफ़ा अतुल के हाथमें दे दिया।

उसने झटपट लिफ़ाफ़ा खोला। उस धुँधले प्रकाश में भी उसे साफ़ दीख गया कि उसके नोट लौटा दिए गए हैं। उसने उछालकर वह लिफ़ाफ़ा

पास रखी तिपाईपर फेंक दिया। शोभा द्वारा लिखित काग़ज़का टुकड़ा लिफ़ाफ़े से निकलकर उसके पाँव के पास आ गिरा। झुककर उसने उसे उठा लिया। जेब से दियासलाई निकालकर उस पुर्ज़े की एक लाईन को पलक मारते ही पढ़ डाला और प्रकंपित ज्योतिकी रेखा द्वारा अपने-आपको राख बनाती हुई उस सलाई की ओर महान गंभीर भावसे देखने लगा। क्या उसका जीवन भी समय से पहले ही राखका ढेर बनने नहीं जा रहा था? क्या शोभा नहीं जल रही थी? अभी तक उन दोनों को जो एक मकड़ी के जाले के तार-सा बारीक सूत्र एक दूसरे के साथ बाँधता चला आ रहा था, शोभाने उसे भी तोड़ दिया! अब?

कुर्सी की पीठ का सहारा लेकर वह झुककर खड़ा हो गया। कुछ ही दूरीपर दो जुगनू आपस में उलझते, जगते, बुझते चले जा रहे थे। वह बहुत देर टकटकी बाँधे उनकी ओर देखता रहा। आखिर एकाएक तनकर सीधा खड़ा हो गया। अपने हाथों की मुट्ठियाँ बाँधता हुआ बोला—'नहीं। चाहे कुछ भी हो, उसे एक बार जाना होगा। इसी में उसका, शोभाका और उस नन्हें बच्चे का कल्याण है।' वह तेज़ीसे सीढ़ियों की ओर भागा और हवाकी भाँति उड़ता हुआ उन्हें पार कर गया।

५

जब अतुल शोभाके कमरे में पहुँचा, तो वह चुपचाप कुर्सीपर बैठी थी। बच्चा नोटों से घिरा मज़े में सो रहा था। अतुल ने उड़ती हुई नज़र से उस दृश्य को देखा, फिर उसके नेत्र शोभा पर जम गए। शोभाने लापरवाही से पति की दृष्टि को अपनी आँखों द्वारा तौला और सहज शान्त स्वर में बोली—'कैसे आए हो?'

'एक कहानी कहने।'

'कहानी?'—शोभाकी उत्सुकता जाग्रत हो उठी। उसके ओठोंपर एक मुस्कान नाचने लगी।

'हाँ, सुनोगी?'

'अवश्य।'

'एक था पहाड़ और एक थी नदी'—चारपाई के एक कोने पर बैठते हुए अतुल ने आरम्भ किया—'नदी पहाड़की गोदी में सिर रखकर संसार भरमें झूमती, इतराती और गीत गाती फिरा करती थी, और पहाड़ नदी के यौवन तथा सौन्दर्य को देख-देखकर फूला नहीं समाता था और आकाश छूने के स्वप्न देखा करता था। इस तरह कई वर्ष बीत गए। नदी का यौवन दिन-प्रति-दिन चित्ताकर्षक होने लगा और पहाड़ की शान बढ़ने लगी।'

'फिर?'

'फिर वही हुआ, जो ऐसी परिस्थितिमें होता है।'

'क्या?'

'दोनों के मन में अभिमान का अंकुर प्रस्फुटित हो गया। मैं पहाड़का सहारा क्यों लूँ, नदी ने सोचा। मेरी गोदी में पड़े होने के कारण ही नदीका अस्तित्व है, पहाड़ ने भी सोचा और कहा भी। फल यह निकला कि दोनों एक-दूसरे से विमुख हो उठे। कुछ नदी आगे बढ़ी, कुछ पहाड़ पीछे हटा, और देखते ही देखते दोनों एक-दूसरे से विलग हो गए।'

'तब क्या हुआ?'—साँस दबाकर शोभा बोल उठी।

'फिर क्या था। सूर्य देवता, जो इन दोनों के मिलाप को देख-देखकर जला करते थे, एकाएक इन दोनों पर टूट पड़े। उसके प्रखर ताप द्वारा नदी का पानी कम हो चला और नदी के गीले स्नेह से वंचित पहाड़ सूखने लगा। उसके टुकड़े झड़-झड़कर गिरने लगे। उन्होंने ग़लत पथ पकड़ा है, दोनों समझ गए; किन्तु झूठे हठ द्वारा प्रेरित वे एक-दूसरे के निकट आने की अपेक्षा और भी दूर हटते चले गए। यहाँ तक कि नदी पानी की एक लकीर बन गई और पहाड़ पृथ्वी से कुछ ही गज़ ऊँचा रह गया।'

'क्या वे फिर मिल न पाए?'—शोभा का गला भर आया।

'जब अवस्था यह हो गई, तब उन दोनों को अपनी भूल का पता चला। तब उन्होंने एक-दूसरे के निकट आने का बहुत प्रयत्न किया; पर

व्यर्थ। वे इतने अशक्त हो चुके थे कि उनके लिए एक एक क़दम उठाना भी भारी था।'

यह कहकर अतुल चुप हो गया। उसके नेत्र जो अभी तक शोभा पर अटके हुए थे, सहसा छत पर की शून्यतापर जा लगे।

'आखिर उन दोनों का अन्त क्या हुआ ?'—शोभा ने नेत्रों में छलकते आँसुओं को रोकते हुए उतावली से पूछा।

अतुल चुप रहा। वह ज्यों का त्यों बैठा रहा। शोभा तेज़ी से उठी और दोनों कंधों से पकड़कर पतिको हिलाती हुई बोली—'बोलते क्यों नहीं ?'

'हाँ, सुनो।'—अतुल मानो स्वप्न से जागकर बोला—'दोनों भूत के गर्भ में विलीन हो गए। आज उनकी जगहपर मरुस्थल है और है सूर्य का प्रखर ताप। यह हुआ उनका अन्त और यहीं मेरी कहानी का भी अन्त होता है।'

अतुल चारपाई से उठा और कमरे में टहलने लगा।

'लेकिन इस लम्बी-चौड़ी कहानी का अभिप्राय क्या है ?'

'अभिप्राय ?'

'हाँ।'

'यही कि तुम्हें मेरे रुपए नहीं लौटाने चाहिएँ थे।'

'बस, यही !'—शोभा का स्वर निराश और टूटा हुआ था।

'तुमने क्या समझा था ?'

'मैंने ? अब बताने से लाभ ही क्या ?'

'तब भी, कहो तो !'—अतुल स्नेह से ओतप्रोत स्वर में बोला।

शोभा पिघल गई—'मैंने समझा, तुम यह दीवार गिराना चाहते हो।'

'सच ?'—अतुल का चेहरा खिल उठा।

'बिलकुल।'

इससे पहले कि अतुल शोभा की ओर बढ़े, वह बिजली की तेज़ी से उसके पाँवों में आ गिरी। अतुल वहीं का वहीं बैठ गया और शोभा का

सिर अपनी गोदी में ले लिया।

उस चूने और ईंटों की दीवार की तो कौन जाने, किन्तु उनके हृदयों के बीच में पड़ी हुई दीवार उसी क्षण-पूर्ण रूप से छिन्न-भिन्न हो गई।

अचला

सफेदे के वृक्षों की पंक्ति ने सूर्य की किरणों को कुछ-कुछ रोक कर लॉन में धूप-छाँह की चादर-सी बिछा दी थी। वहीं एक कुर्सी पर लता बैठी थी। इधर-उधर दो-चार कुर्सियाँ और भी पड़ी थीं। दरमियान में एक तिपाई थी। हवा का कोई-कोई झोंका कभी-कभी लता के अस्त-व्यस्त से घने काले केशों से छेड़-छाड़ करता हुआ उसकी जॉर्जेट की सफेद साड़ी के छोर को फड़फड़ा देता था। वह एक पत्र पढ़ने में तन्मय थी। कुछ ही क्षणों में उसने पत्र समाप्त कर दिया। अपनी पतली-पतली कलामय कोमल अँगुलियों द्वारा, जिनके नाखून बिल्लौर की भाँति चमक रहे थे, ज़मीन पर पड़े लिफ़ाफ़े को उठाया और पत्र को उस में डाल दिया। ज़रा बेपरवाही से उसे तिपाई पर फेंक कर अपने लाल-लाल ओठों को बल देकर मुस्कराई। बहुत दूर आकाश में एक दो सफ़ेद बादल आपस में उलझ रहे थे। कुछ देर उनकी ओर देखती रही, फिर अपने विशाल नेत्रों को मूँद कुर्सी की पीठ पर सिर फेंक दिया।

इतने में उसकी माता चन्द्रप्रभा ने प्रवेश किया—"लता! सो रही हो क्या? खाना तैयार पड़ा है। मैं कब से प्रतीक्षा में बैठी हूँ।"

लता ने चौंक कर नेत्र खोले। एक अँगड़ाई लेती हुई बोली—"चलिए, मैं हाज़िर हूँ।"

चन्द्रप्रभा की दृष्टि एकाएक तिपाई पर रखे पत्र पर जा पड़ी। कुतूहल से उसकी ओर देखती हुई पूछने लगी—"यह किसका पत्र है! विनोद का?"

"हाँ उन्हीं का है।"

"क्या लिखा है ?"

"वही, जो सदा लिखा करते हैं।"

"फिर रुपया माँगा है ?"

"हाँ।"—लता ने कुछ सेकेण्ड के लिए माँ के चेहरे की ओर देखा—"इस बार पाँच सौ की आज्ञा हुई है।"

"कोई बात नहीं।"—चन्द्रप्रभा मुस्करा कर बोली—"मैं अभी इन्तज़ाम किये देती हूँ।"

लता कुछ देर चुप रही। सामने वृक्षों पर चहकते हुए पक्षियों की ओर देखती रही, फिर निश्चयात्मक स्वर में बोली—"इस बार कुछ भी इन्तजाम करने की जरूरत नहीं।"

माँ ने अपनी बेटी के चेहरे का निरीक्षण करते हुए आश्चर्य से पूछा—"क्यों ?"

लता कुर्सी से उठकर सीधी खड़ी हो गई और ज़रा उत्तेजित स्वर में बोली—"इसलिए कि उनका आपके रुपये पर कोई अधिकार नहीं। अभी विवाह हुए दिन ही कितने हुए हैं; किन्तु दहेज, के अतिरिक्त आप कम-से कम चार हज़ार रुपये उन्हें दे चुकी हैं। अब यह धाँधली उन्हें छोड़नी होगी।"

"लेकिन बेटी, यह सब धन-दौलत, कोठियाँ, मकान तुम्हारे ही लिए तो हैं। मेरा दूसरा कौन है।"

"कुछ भी हो। वे आज तक अपनी स्थिति का अनुचित लाभ उठाते चले आ रहे हैं। मैं अब यह कुछ नहीं होने दूँगी। उन्हें रुपया चाहिए, विलास की भट्ठी में झोंकने के लिए—रेसकोर्स पर उड़ाने के लिए! नहीं, अब यह अन्याय न हो सकेगा।"

"देखो लता"—चन्द्रप्रभा शान्त स्वर में बोली—"जोश में न आओ। वह मुझसे तब तक ही माँगेगा जब तक उसका काम लग नहीं जाता। इस लिए—"

"काम ?"—लता बीच में ही बोल उठी। उसकी वाणी पहले से भी अधिक तीखी हो चली थी—"जिन्हें जिह्वा के एक इशारे से मन-चाहा धन मिल सकता है, उन्हें क्या पड़ी है काम करने की। काम ? बीवीजी आप भी बिलकुल सीधी हैं।"

लता के मस्तक पर पसीने की बूँदें मोतियों के समान चमकने लगीं। जम्पर में छिपा कर रखा हुआ छोटा-सा एक रूमाल निकाल कर उन्हें पोंछा फिर अपनी माता का हाथ पकड़ती हुई बोली—"चलिए, खाना ठंढा हो रहा होगा।"

लता की आवाज़ में थिरकन अवश्य थी परन्तु वह इस बीच में ही बहुत कुछ सँभल गई थी। चन्द्रप्रभा चुपके से उसके सङ्ग हो ली।

२

खाना खाकर लता अपने कमरे में चली गई। कमरे की खिड़कियों और दरवाज़ों पर चित्ताकर्षक हलके नीले रंग के परदे पड़े हुए थे। कमरे में उसी रङ्ग के दो अतीव सुन्दर सोफ़ा-सेट रखे थे। मध्य में मोटे शीशे की एक बढ़िया तिपाई थी। उस पर पड़े शीशे के बड़े फूलदान में नीले रङ्ग के फूलों की महक कमरे में चारों ओर फैल रही थी। नीले फ़र्श पर श्वेत संगमरमर के जड़े टुकड़े मेघरहित आकाश के तारों की भाँति चमचमा रहे थे। कमरे में चारों ओर शान्ति और विलास का साम्राज्य था, किन्तु लता को यह सब काटे खा रहा था! वह एक सोफ़ा पर औंधे मुँह लेट गई और हृदय में उठने वाले भावों की आँधी को सँभालने का प्रयत्न करने लगी।

उसके विवाह को आज एक वर्ष होने को आया था; पर इतने सयय में ही उसका मन संसार के प्रति उदासीन और बेचैन हो उठा था। कितने चाव से, उल्लास की किस मस्ती के रङ्ग में रँगे हुए विनोद के स्वागत के लिए वह पूर्णिमा की उस रात को उत्सुक थी। विनोद को देख कर कितना खिल उठी थी। विनोद के सुडौल शरीर, तराशे हुए स्वस्थ संस्कृत चेहरे

और अधरों पर खेलती हुई मधुर मुस्कान ने उसे कितना लुभाया था—किस तरह बन्दिनी बनाया था। किन्तु यह जादू अधिक देर न चल सका। ऊपर की तड़क-भड़क के भीतर छिपी हुई पति की सङ्कीर्णता, शताब्दियों से हृदय में बसी हुई अनुदारता और रुपये के बारे में आत्माभिमान को भी रौंद देने वाली प्रवृत्ति को लता ने दो मास के वैवाहिक जीवन में ही प्रत्यक्ष देख लिया था। इस से वह बहुत खिन्न हुई और उसकी खिन्नता दिन प्रतिदिन बढ़ने लगी। आज यदि वह विनोद के हृदय में आत्माभिमान—केवल आत्माभिमान की एक चिनगारी भी प्रज्वलित कर सकती तो वह कितनी सुखी होती। उसका एक स्वप्न सत्य हो जाता। किन्तु कहाँ? उसने तो आज फिर लज्जा को तिलाञ्जलि देकर रुपये के लिए लिख भेजा है। और फिर यहीं बस नहीं होगी। परसों एक तार आयेगा और चौथे रोज़ वह स्वयं यहाँ होगा; लता यह खूब समझी थी। फिर? फिर क्या! उसे इस बार पति को अवश्य रोकना होगा। चाहे इस प्रयत्न में वह सर्वस्व ही क्यों न खो दे। लता उठ कर खड़ी हो गई। एक दो पग बेचैनी से कमरे में चली, फिर कमरे से निकल कर भागती हुई लॉन में पहुँची। विनोद का पत्र ज्यों का त्यों तिपाई पर पड़ा था। उसने उसे उठा लिया और आधे क्षण में ही टुकड़े टुकड़े करके इधर-उधर बिखरा दिया; फिर भागती हुई कोठी में घुस गई।

३

वही हुआ जिसकी लता को आशङ्का थी। सचमुच तीसरे दिन विनोद ने रुपये के तकाज़े को तार द्वारा भिजवा दिया। लता अपने कमरे में बैठी एक चित्रमय पत्रिका में मन को उलझाने की कोशिश कर रही थी जब उसकी माता तार लेकर पहुँची।

"आ गया तार?"—लता ने व्यङ्ग भरी मुस्कराहट से माँ की ओर देखा।

"हाँ।"

चन्द्रप्रभा ने तार लता के हाथ में पकड़ा दिया। लिफ़ाफ़े से निकाल कर लता ने उसे एक उड़ती दृष्टि से पढ़ा और अपने निकट सोफ़ा पर रख दिया।

"अब हमें रुपया अवश्य भेज देना चाहिए।"—माँ बोली।

"कदापि नहीं।"—लता के स्वर में दृढ़ निश्चय था।

"देखो बेटी, अब हठ छोड़ दो। राई का पर्वत न बनाओ।"

"बीबी जी!"—लता शान्त वाणी में कहने लगी—"जो आपको राई-सा क्षुद्र दीख रहा है वही मेरे जीवन के सुखमय रास्ते को पर्वत-राज से भी महान् बन कर बाधा देता हुआ खड़ा हो गया है। इसलिए इस बार मैं उनकी न चलने दूँगी!"

चन्द्रप्रभा अपनी बेटी के हठ से ही भली-भाँति परिचित न थी बल्कि उसे लता के तर्क की सत्यता पर भी विश्वास था। इसलिए वह चुप रही।

अगले दिन विनोद सचमुच आ पहुँचा। चन्द्रप्रभा कोठी के लॉन में अकेली टहल रही थी। विनोद उतावली से उसकी ओर बढ़ा। चेहरा लाल हो रहा था, नेत्रों से क्रोध की चिनगारियाँ फूट रही थीं, ओंठों को दाँतों से चबा रहा था। झल्लाए हुए स्वर में बोला—"किधर है वह?"

"कौन?"

"वही दम्भ और अभिमान की मूर्त्ति।"

चन्द्रप्रभा ने विनोद को सिर से पाँव तक देखा और ज़रा चिन्तित स्वर में बोली—'बेटा, ज़रा बैठो तो सही। इस प्रकार अपना आपा खो देने से तो नहीं बनेगा!"

"नहीं, मैं यहाँ बैठने के लिए नहीं आया।"—विनोद का क्रोध और भी भड़क उठा—"मुझे बताइए, वह कहाँ है? मैं आज उसे कुछ सीख दूँगा।"

"पहले कुछ जलपान तो कर लो।"—मधुर स्वर में उसकी

सास ने पुचकारा।

"नहीं, यह सब पीछे देखा जायगा।"

"पीछे। तब शायद अवसर ही बीत चुका हो।"—चन्द्रप्रभा ने एक आह भरी।

"क्या मतलब ?"

"मतलब क्या बताऊँ ?"

विनोद खिलखिला कर हँसा—"आप जरा भी चिन्ता न करें। ऐसी-ऐसी लड़कियों को मैं अपनी कनिष्ठा के इशारे पर नचा सकता हूँ, नचाता रहा हूँ। आप मुझे नहीं जानतीं।"

"जानती हूँ। जिसके साथ उलझने जा रहे हो उसे भी खूब जानती हूँ। इसलिए मैं तो यही अनुरोध करूँगी कि इस समय टल जाओ। इसी में तुम्हारा और उसका भी कल्याण है।"

"मेरा कल्याण ?"—विनोद आकाश में उड़ने लगा—"आपकी सलाह के लिए कृतज्ञ हूँ। किन्तु मैं अपने बनाये हुए रास्ते पर चलना श्रेयस्कर समझता हूँ।"

"तुम्हारी इच्छा !"—चन्द्रप्रभा गम्भीर स्वर में बोली—"लता अपने कमरे में है। कहो तो उसे यहाँ बुला भेजूँ ?"

"नहीं, इतना कष्ट उठाने की जरूरत नहीं। मैं स्वयमेव उसे ढूँढ लूँगा।"

लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ विनोद लॉन से बाहर जाने लगा। चन्द्रप्रभा कुछ भयभीत कुछ कुतूहलपूर्ण नेत्रों से एकटक उसकी ओर देखती रही। जब आँखों से ओझल हो गया तो उसने एक दीर्घ निश्वास ली। क्या जाने इस अद्भुत सङ्घर्ष का क्या अन्त हो। उसका हृदय धड़कने लगा। उसी पर प्रभुत्व पाने के हेतु वह फिर लॉन में टहलने लगी।

उसके दो निकटतम आत्मीयों के भीतर क्या नाटक खेला जा रहा है, उसकी एक झलक पाने के लिए उसके क़दम एकाध बार लता के कमरे

की ओर बढ़े किन्तु वहाँ तक पहुँचना उसने उचित न समझा।

४

लता अपने कमरे में एक जासूसी उपन्यास पढ़ने में तल्लीन थी। पश्चिमीय खिड़की खुली थी। उसी की ओर पीठ किये वह एक आराम कुर्सी पर बैठी थी। इतने में डूबते हुए सूर्य ने अपनी लालिमा चारों ओर बिखरा दी। लता का कमरा भी उस रङ्ग से रँग गया। उसने किताब एकाएक सोफा पर पटक दी और खिड़की में खड़ी होकर बादलों की लाल-पीली पंक्तियों का निरीक्षण करने लगी। उसे यों खड़े-खड़े कठिनता से पांच मिनट बीते होंगे कि किसी ने उसका द्वार खटखटाया। "आ जाइए।"—वह मुँह मोड़ कर वहीं की वहीं खड़ी हो गई।

विनोद ने प्रवेश किया। उत्तेजना उसकी नस-नस से फूट रही थी।

"तुम!"—लता के मुख से निकला। उसने हाथ जोड़ कर पति को नमस्कार किया।

"हाँ, मैं!"—उसने नमस्कार की ओर ध्यान तक न दिया।

फिर दोनों चुप हो गये। नेत्रों द्वारा एक दूसरे को तौलते रहे। कोई लगभग आधा मिनट यही अवस्था बनी रही। आखिर विनोद की जबान खुली। हथौड़े की-सी चोट करता हुआ बोला—"जानती हो, तुम ने क्या किया है?"

"क्या?"

"मेरा अपमान!"

"किस तरह?"

"रुपया न भेज कर।"

"रुपया न भेज कर!"

"हाँ!"—विनोद दाँत पीसने लगा—"रुपया न मिलने पर मेरी वह जगहँसाई हुई है कि मैं कहीं का न रहा।"

लता के ओठों पर व्यंग्य की एक लकीर-सी खिच गई—"तुम्हारी बहुत हानि हुई मान लेती हूँ। किन्तु क्या तुम जानते हो रुपया माँग कर तुमने क्या किया ?"

"क्या ?"

"मेरा सर्वस्व मुझ से छीन लिया।"

"तुम्हारा सर्वस्व! वह किस तरह ?"

"मैंने तुम्हें खो दिया है। लेकिन तुम क्या समझोगे।"—लता दृष्टि से पति को चीरती हुई कहने लगी—'जब मनुष्य आत्माभिमान और लज्जा खो देता है तब उसकी बुद्धि में प्रखरता भी नहीं रहती।"

विनोद आग-बबूला हो उठा। क्रुद्ध स्वर में बोला—"अपनी कैंची-सी जिह्वा के जौहर मुझे न दिखाओ। यह चतुरता यहाँ न चलेगी। मैं नौसिखिया नहीं हूँ। तेरी जैसी बीसों मेरे आगे-पीछे फिरती रही हैं। मेरे टैनिस के खेल पर मुग्ध होकर उच्चवंशीय पश्चिमीय कुमारियों तक ने मेरी जीवन-सहचरी बनने के लिए आग्रह किया।"

"यह मैं मानती हूँ!"—लता की वाणी में भी क्रूरता घुस चली थी—"किन्तु वे भूल कर रही थीं।"

"भूल ?"

"हाँ भूल! वे यह न जानती थीं कि उनका महान् टैनिस खिलाड़ी जीवन का खेल खेलने में कितना कच्चा, कितना क्षुद्र है।"

"क्षुद्र ?" विनोद चिल्लाया—"देखो लता, जबान सँभाल कर बात करो। मैं पाँव की एक ठोकर लगाकर तुम्हें सदा के लिए छोड़ सकता हूँ।"

"हाँ, छोड़ सकते हो, मैं समझती हूँ। किन्तु आज ऐसा न होगा।"

"ऐसा न होगा!"—विनोद ने आश्चर्य से लता की ओर देखा।

"हाँ, क्योंकि आज मैं तुम्हें छोड़ रही हूँ। कृपया यहाँ से चले जाइए। मैं तब तक तुम्हारा मुख देखना नहीं चाहूँगी जब तक तुम दूसरों से रुपया माँगने की आदत छोड़ कर आत्माभिमान का पाठ न पढ़ लोगे।'

कहते-कहते लता का गला भर आया। उसके नेत्रों में आँसू छलछला आये। उन्हें रोकने में प्रयत्नशील वह अपनी कुर्सी पर धम से बैठ गई।

विनोद कुछ सेकेंड हत-बुद्धि-सा खड़ा उसकी ओर देखता रहा। फिर सिर नीचा किये धीरे-धीरे चलता हुआ कमरे से बाहर हो गया।

५

जब विनोद बाहर निकला तो चन्द्रप्रभा लॉन में खड़ी उस की बाट जोह रही थी। उत्सुकता से उसकी ओर बढ़ी और उसे रोक कर खड़ी हो गई—"क्या जा रहे हो ?"

"हाँ"—विनोद की आवाज़ बेतरह टूटी हुई थी।

"लेकिन इतना जल्दी क्यों ?"

"क्योंकि अब यहाँ ठहर नहीं सकता।'

"तो आओगे कब ?"—चन्द्रप्रभा की वाणी में चिन्ता थी।

"शायद अब कभी न आ सकूँ। हाँ, कोशिश अवश्य करूँगा। मुझे वर दो बीबी जी, कि जिस शक्ति की मुझे ज़रूरत है उसे प्राप्त कर सकूँ।"

चन्द्रप्रभा ने आगे बढ़ कर प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरा—"बेटा, उसकी बातों पर न जाओ। वह तो पगली अचला है। कौन जाने, कल अपने आप पछताने लगे।"

"पछताने की उसे नहीं, मुझे आवश्यकता है। अब आज्ञा चाहता हूँ।"—विनोद ने हाथ जोड़कर सास को प्रणाम किया और तेजी से बाहर की ओर चल पड़ा।

दो ही क्षणों के अनन्तर लता वहीं आ पहुँची। नेत्रों के आँसू अभी तक पूरी तरह से सूख नहीं पाये थे। चिन्तित स्वर में पूछने लगी—"चले गये ?"

"हाँ।"

"कुछ कहते थे ?"

"कहता था, शायद अब कभी न आ सकूँ।"

"बस ?"—लता की निराशा छिपाये भी छिप न सकी।

"आने की कोशिश वह अवश्य करेगा यह वचन दे गया है।"

"कोशिश करेंगे ?"—लता की जान में जान आई।

"हाँ।"

"मेरे लिए यही बहुत है।"—लता के नेत्र चमक उठे। ओंठों पर आशा भरी मुस्कान की एक रेखा खिंच गई।

ममता का बंधन

"आज उस चाँदीके गोलेको मैं इस सुराही में बन्द करके चैन लूँगा।"—हरेन्द्र सहसा दाँत पीसकर बोला और दूध-से श्वेत बिछौनेसे उठकर बेचैनी से छतपर टहलने लगा।

उसके साथवाली चारपाईपर उसकी पत्नी नलिनी सोई पड़ी थी। उसीके सिरहाने एक स्टूलपर सफ़ेद बिल्लौरकी एक सुराही पानीसे भरी रखी थी, और निकट ही एक शीशेका गिलास था। रातके क़रीब ग्यारह बजेका समय था। पूर्णिमाके चाँदकी रुपहली चाँदनी नलिनीकी उजली साड़ी और गोरे चेहरेपर खेल रही थी। उसने घबराकर कमल-दल-सी बड़ी-बड़ी आँखें खोलीं। संशयात्मक भावसे अपने पतिकी ओर देखा और पूछा—"क्या बात है ?"

पत्नीका कण्ठ-स्वर सुनकर हरेन्द्र टहलता-टहलता रुक गया। उसने शून्य नेत्रोंसे आधे क्षण नलिनीका निरीक्षण किया, फिर एक अर्थहीन मुसकान उसके होठोंको छूकर विलीन हो गई। "नहीं समझीं ? तुम क्या समझोगी। आज इस चाँदको नीचे उतरना ही होगा।"

यह कहकर वह चाँदकी रश्मियोंको रस्सीके डोरे समझकर उन्हें पकड़नेके लिए उछला।

"यह क्या करने जा रहे हो ?"—नलिनी उतावलीसे चारपाईपर से उठ खड़ी हुई और भय-त्रस्त स्वर में बोली—"होशमें तो हो"

"होश ? पागलपन !"—वह खिलखिलाकर हँसा और पत्नीसे मुँह मोड़कर नाचने लगा।

नलिनीका हृदय धड़कने लगा। उसका पति सचमुच सुध-बुध खो रहा है, इसमें अब कुछ सन्देह ही नहीं था। अब वह करे तो क्या। निचली छतपर दूसरे बच्चोंके साथ उसके सास-ससुर सो रहे थे। अब तो उन्हें जगाना ही होगा। वह हवाकी तरह उड़ती हुई उनके पास पहुँची और कुछ ही क्षणोंमें उन्हें ऊपर ले आई।

जब वे ऊपर पहुँचे, तो हरेन्द्र चाँद और तारोंसे बातें करता हुआ अभी तक नाच रहा था।

"हरेन्द्र !"—उसके पिताने ज़ोरसे आवाज़ दी।

हरेन्द्र चुप रहा।

"सुनते नहीं हो ?"—उसके पिता फिर कड़के।

हरेन्द्र फिर चुप।

अब उसके पितासे न रहा गया। उन्होंने आगे बढ़कर अपने पुत्रको दोनों कंधोंसे पकड़ लिया और जोरसे हिलाया। इससे हरेन्द्र एकाएक होशमें आ गया। "आप क्या कर रहे हैं ?"—वह बोला।

"पहले तुम्हीं बताओ, तुम क्या कर रहे थे ?"—उसके पिताने ज़रा क्रोधसे पूछा।

"मैं ?"—हरेन्द्र निकट खड़ी मृग-छौने-सी काँपती हुई अपनी पत्नी और आर्द्र नेत्रोंवाली अपनी माँकी ओर देखकर मुसकराया और आश्चर्यसे बोला—"मैं तो कुछ भी नहीं कर रहा था।"

यह कहते-कहते उसकी दृष्टि फिर चाँदपर पड़ गई। उसने झटपट उधरसे मुँह मोड़ लिया, और चुपकेसे अपनी चारपाईपर जा बैठा।

"यहाँ मत बैठो," उसके पिताने कहा—"चलो, आज निचली छतपर हमारे पास सोओ।"

"नहीं मैं यहीं ठीक हूँ।"

"लेकिन—"

"मैं आपको अब जरा भी कष्ट नहीं दूँगा, विश्वास दिलाता हूँ।" उसको अपने ऊपर अब पूर्ण प्रभुत्व था।

यह आश्वासन पानेपर उसके पिता अपनी पत्नीको साथ लेकर नीचे चले गये। नलिनी जहाँकी तहाँ खड़ी थी। अपने धड़कते हृदय और झड़ते आँसुओंपर विजय पानेका विफल प्रयत्न करती हुई वह टुकुर-टुकुर अपने पतिकी ओर देख रही थी। हरेन्द्रने उचककर उसका हाथ पकड़ लिया और प्रेमसे खींचकर अपने पास बिठा लिया। "तुम बहुत घबरा गई हो"—वह उसकी पीठपर हाथ फेरता हुआ अत्यन्त कोमल और स्नेहसे ओत-प्रोत वाणी में बोला—"यकीन मानो, फिर ऐसा कभी न होगा।"

"सच ?"नलिनीने संदिग्ध भावसे पतिकी ओर देखा।

"बिलकुल।"—हरेन्द्रने दृढ़तासे कहा।

अब नलिनीको कुछ-कुछ ढाढ़स बँधा। उसने अपनी साड़ीके छोरसे नेत्र पोंछ डाले और आँखें मूँदकर पतिकी गोदमें सिर रखकर लेट गई। हरेन्द्र उसके बालोंसे छेड़-छाड़ करने लगा।

—२—

लाख यत्न करनेपर भी हरेन्द्र अपने मस्तिष्कको न सँभाल सका। दिन प्रति दिन मस्तिष्कपर उसका अधिकार क्षीण से क्षीणतर होने लगा। घरमें उदासी छा गई। उसकी माताके नेत्रोंसे जलकी नदियाँ बहने लगीं। नलिनी आँखोंके आँसुओंको तो छिपाये रखती, पर उसका हृदय सदा रोता रहता। हरेन्द्रके पिता डाक्टरोंके पीछे मारे-मारे फिरने लगे। घर में धनकी कोई कमी न थी, इसलिए लाहौर के प्रायः सभी डाक्टरोंने बारी-बारीसे हरेन्द्रका निरीक्षण किया; पर रोगकी तह तक कोई भी पहुँच न सका। यहाँ तक कि इन सबकी देख-रेखके होते हुए भी आखिर हरेन्द्रका मस्तिष्क पूर्णतया हाथोंसे निकल ही गया।

उस दिन उसके पिताने तीन डाक्टरोंको एक साथ बुलाया था,

जिनमें से एक पागलखानेके बड़े डाक्टर थे। जब वे रोगीकी अच्छी तरह जाँच कर चुके, तो पिताने धड़कते हृदयसे पूछा—"कहिये ?"

"इनका मस्तिष्क पूरी तरहसे हिल चुका है।" एक डाक्टर ने खेदसूचक स्वरमें कहा—"उसका ठिकाने आना यदि असम्भव नहीं, तो बहुत कठिन है।"

"कारण ?"

"कुछ निश्चित रूपसे कहा नहीं जा सकता। मनको कोई गहरी चोट लगी मालूम देती है। क्या इधर कोई ऐसी घटना हुई है ?"

"मैं तो नहीं जानता।"

"कुछ भी हो,"—पागलखानेके डाक्टर महोदय बोले—"रोगीके ठीक होनेका केवल एक ही उपाय है।"

"वह क्या ?"—पिताके स्वरमें ज़रा-सी आशा चमकी।

"इन्हें पागलखानेमें दाखिल करवा दीजिए।"

"पागलखानेमें ?"—वे असमंजसमें पड़ गये।

नलिनी यह सब कुछ साथवाले कमरे में खड़ी सुन रही थी। बड़ी तेज़ीसे वह उन लोगोंके पास जा पहुँची और ज़रा उत्तेजना भरे स्वरमें बोली—"पागलखानेमें ? यह असम्भव है। वहाँ जो कुछ होता है, मैं जानती हूँ।"

"कैसे ?"

"इन्होंने बतलाया था।"—वह हरेन्द्रकी ओर संकेत करके कहने लगी—"ये कई बार पागलखाना देख चुके हैं।"

"पागलखाना देख चुके हैं !" एक डाक्टर बीचमें ही बोले—"इनके उन्मादका कारण अब कुछ-कुछ समझमें आ रहा है। खैर, आप यदि वहाँ नहीं भेजना चाहते, तो न सही। ये किसीको कष्ट देनेवाले पागलोंमें से नहीं।"

बात सचमुच यही थी। आरम्भमें तो ज़रूर हरेन्द्रने काफ़ी

छटपटाहट दिखाई; पर अब तो वह एक बकरीके मेमनेकी तरह सुशील था। उसके उन्मादने अब यह रूप धारण किया था कि वह सदा मौन रहता और उसके चेहरेपर आश्चर्य खेलता रहता। घरके कमरे-कमरेमें ऐसे घूमने-फिरने लगा, जैसे कोई दूर देशका वासी अजनबियोंमें फंसकर अपने खोये हुए जगतकी राह टटोल रहा हो।

थोड़ी देर बाद डाक्टर अपनी फ़ीस लेकर चले गये। उनका मुख्य आदेश यह था कि रोगीको कभी अकेला न रहने दिया जाय। इसलिए नलिनी छायाकी भाँति पतिके साथ रहकर उसकी सेवा-शुश्रूषामें लग गई। कुछ ही कालमें वह हरेन्द्रकी अस्पष्ट और मौन वाणी समझने लगी। वह उसके क्षुद्र-से-क्षुद्र संकेतके भीतर छिपे हुए अर्थोंको एक क्षण में भाँप लेती और उनकी इच्छा पूरी करनेमें अणुमात्र भी विलम्ब न करती। इससे हरेन्द्रकी आत्माको सन्तोष अवश्य होता, पर उसके रोगमें सुधारके कोई लक्षण न दीखते। इसी कारण दिन-रात व्यस्त रहनेपर भी नलिनीके चेहरेपर की उदासीकी रेखाएँ दिन प्रति दिन गहरी होती जाने लगीं। इसी भाँति लगभग एक वर्ष बीत गया।

–३–

"सुना है कि दिल्लीमें मस्तिष्क-रोगके एक संसार-प्रसिद्ध विशेषज्ञने काम शुरू किया है।"

हरेन्द्रके पिताने कमरेमें घुसते हुए कहा। उनकी पत्नी अभी कुछ कहने ही जा रही थी कि नलिनीने, जो साथके कमरेमें बैठी थी, तेज़ीसे प्रवेश किया और उत्सुकतासे पूछा—"संसार-प्रसिद्ध? वे कौन हैं?"

"यहूदी हैं। डाक्टर जोशुआ नाम है, जर्मनीसे देश-निकाला मिलनेपर यहाँ आये हैं। कहते हैं, उन्मादको छूते ही दूर कर देते हैं।"

"सच?"—बहू और सास एक साथ बोलीं।

"हाँ। इसलिए मैं सोच रहा हूँ कि हरेन्द्रको उसे एक बार दिखा दें। कौन जाने, शायद कुछ लाभ हो जाय।"

"ज़रूर दिखाना चाहिए"—नलिनी उत्तेजित स्वरमें बोली—"और वह भी बहुत जल्दी।"

"मेरी भी यही राय है।"—हरेन्द्रकी माँने भी हाँ में हाँ मिलाई।

"तो कब चला जाय ?"

"आज ही क्यों न चलें ?"—नलिनी उतावलीसे बेक़ाबू हो रही थी।

"आज ? लेकिन उसके साथ समय तो निश्चित करना होगा।"

"वह तो तारसे भी हो सकता है। अभी जवाबी तार दे दीजिए।"

उन्होंने कुछ देर सोचा, फिर बोले—"बहुत अच्छा।" नलिनीके उत्साहके आगे उन्हें सिर झुकाना ही पड़ा।

शामसे पहले-पहले तारका उत्तर आ गया। डाक्टरने अगले दिन ही समय देना स्वीकार कर लिया था। नलिनी, हरेन्द्र और उसके पिता उसी रातकी गाड़ीसे दिल्लीके लिए चल दिये और सुबह नौ बजे वहाँ जा पहुँचे।

डाक्टरके साथ मुलाक़ातका समय साढ़े बारह बजे निश्चित था, इसलिए नहा-धो और खाना खानेके अनन्तर उन्हें कुछ समय सुस्ताने के लिए भी मिल गया।

नई दिल्लीके कनाट-प्लेसमें आधुनिक ढंगके कुछ बहुत ही बढ़िया फ्लैट बने हुए हैं। वैसे ही एक फ्लैटमें डाक्टर जोशुआने अपनी प्रयोगशाला खोल रखी थी। ठीक साढ़े बारह बजे इन लोगोंका ताँगा उस फ्लैटके सामने जा खड़ा हुआ। नलिनीने आगे बढ़कर घंटीका बटन दबा दिया, जिसके कारण मकानमें कहीं दूर झनझनाहट-सी हुई और आधे मिनट के बाद दूध-से श्वेत कपड़े पहने एक नर्स उन्हें लिवानेके लिए नीचे आ गई।

उसके पीछे-पीछे सीढ़ियाँ चढ़ते हुए वे एक खुले आँगनमें जा पहुँचे। आँगनके अन्तपर डाक्टरका मरीज़ देखनेका कमरा था। आँगन पार करके सब लोग कमरेमें दाखिल हो गये।

कमरा यों तो अँधेरा कर दिया गया था; पर कुछ लाल और हरी

बत्तियाँ उसे अर्द्ध-प्रकाशित कर रही थीं। कमरेके एक ओर कुछ आराम-कुर्सियाँ पड़ी थीं। उनके सामनेकी दीवारके निकट एक काफ़ी बड़ी मेज़ थी, जिसपर स्वच्छ बिछौना बिछ रहा था। इधर-उधर दो-तीन तिपाइयाँ रखी थीं, जिनपर भाँति-भाँतिके यन्त्र रखे थे। दोनों हाथोंको पीठके पीछे बाँधे हुए डाक्टर महोदय कमरेमें टहल रहे थे। दूध-सा गोरा रंग, भूरे रंगकी कटी-छँटी दाढ़ी और मूँछें, उन्नत ललाट और बिल्लौरकी भाँति चमकती हुई गहरी नीली आँखें। उसने मुसकराते हुए उनका स्वागत किया और उन्हें सामने पड़ी हुई कुर्सियोंपर बैठनेका संकेत किया।

वे तीनों चुपकेसे बैठ गये। डाक्टरने जहाँके तहाँ खड़े रहकर उड़ती हुई दृष्टिसे आधे क्षणके लिए उन लोगोंका निरीक्षण किया। फिर उसके नेत्र पिता पर गड़ गये—"आज्ञा दीजिए ?"

"यह कोई एक वर्ष से बीमार है।" पिताने हरेन्द्रकी ओर इशारा करके जवाब दिया—"मस्तिष्क ठीक नहीं है।"

"मस्तिष्क ?"—डाक्टरकी दृष्टि पितासे हटकर रोगीपर जा लगी।

"नलिनी बेटी ज़रा डाक्टर साहबको रोगका इतिहास तो समझा दो।"

नलिनीके होंठ हिलने ही जा रहे थे कि डाक्टरने हाथ उठाकर उसे रोक दिया—"ठहरिये, पहले मेरे मस्तिष्कको दाँव-पेंच लड़ा लेने दीजिए। बादमें यदि जरूरत हुई, तो इतिहास सुन लूँगा।"

यह कहकर डाक्टर आगे बढ़ा और दोनों कंधोंसे पकड़कर हरेन्द्रको उठा दिया। फिर उसकी कमरमें प्यारसे हाथ डालकर उसे बड़ी मेज़की ओर धकेलना चाहा; पर इसकी आवश्यकता न पड़ी। हरेन्द्र स्वयमेव उस ओर बढ़ चला। मेज़के निकट ही नर्स खड़ी थी। उसकी सहायतासे डाक्टरने हरेन्द्रको मेज़पर लिटा दिया।

हरेन्द्रके लेट जानेपर नर्स एक ओर हट गई, और डाक्टरने रोगीकी परीक्षा आरम्भ कर दी। पहले तो उसने एक-एक अंग ठोंक-

पीटकर देखा। फिर भिन्न-भिन्न प्रकारके यन्त्रों द्वारा उसकी आँख, कान, नाक आदिकी परीक्षा की। फिर अपने मस्तकपर एक प्रकाशमान यन्त्र बाँधकर वह रोगीके मस्तक और सिरसे छेड़-छाड़ करने लगा। डाक्टरके सिर ऊँचा-नीचा करनेपर कभी-कभी उस यन्त्रसे निकली हुई ज्योतिकी रश्मियाँ सामनेकी कुर्सियोंपर मन्त्र-मुग्ध-से साँस रोककर बैठे दोनों प्राणियोंपर जा पड़तीं। कौन जाने उनके हृदयमें उस समय क्या उथल-पुथल मच रही थी?

कोई आध घंटेके अनन्तर डाक्टरने परीक्षा समाप्त कर दी। उसने यन्त्रको उतारकर तिपाईपर रख दिया, और कमरेमें लम्बे लम्बे डग भरता हुआ चलने लगा। उसके मस्तकके बल कह रहे थे कि वह गहरे सोचमें डूबा हुआ है। थोड़े ही क्षणों के बाद वह चलता-चलता रुक गया और एक तिपाईके सहारे उन दोनोंकी ओर मुख करके खड़ा हो गया। वे दोनों धड़कते दिलसे डाक्टरका फैसला सुननेके लिए चैतन्य हो गये।

"मैंने रोगीकी परीक्षा कर ली है।"—उसने शान्त स्वरमें कहना आरम्भ किया—"और जिस नतीजेपर मैं पहुँचा हूँ, सुन लीजिए।"

"कहिये।"—नलिनीका गला रुंध रहा था।

"मेरे विचारमें इनको रोग विरासत में नहीं मिला, बल्कि कल्पनाकी ऊँची उड़ानें भरकर इन्होंने उसे खुद ही खरीदा है। कुछ ऐसे दृश्य इन्होंने देखे हैं, जिनके कारण इनके जीवनने वह करवट ली कि संसार इन्हें असार दीखने लगा और थोड़े ही कालमें लाख सँभलनेपर भी ये पूर्णरूपसे जगतसे विमुख और विरक्त हो गये। वह विमुखता इतनी पूर्ण है, इन्हें संसारसे इतनी उदासीनता हो गई है कि कुछ बोलने तकको इनका जी नहीं चाहता। पर रोग असाध्य नहीं है। ये ठीक हो सकते हैं।"

उन दोनोंने सन्तोषकी एक साँस ली—"सच?"

डाक्टरने उनकी बातकी ओर बिलकुल ध्यान न दिया, और कहा—"लेकिन एक ही रास्ता है"

"वह क्या ?"—रोगीके पिता बीचमें ही बोल उठे।

"वह यह कि इन्हें फिर इस संसारमें लाया जाय। इनके मस्तिष्कके तारोंको इस तरह छेड़ा जाय कि संसारके प्रति इनकी मृत-प्राय ममता फिर जाग उठे, फिर भड़क उठे।"—डाक्टरकी वाणी कुछ ऊँची उठ गई थी।

"पर यह कैसे हो सकता है, यह कौन कर सकता है ?" नलिनीके स्वरमें फिर निराशा घुस रही थी।

डाक्टरने कुछ जवाब न दिया। उसके नेत्र जो अब प्रज्वलित हो उठे थे, नलिनीके सुन्दर तथा संस्कृत चेहरेपर गड़ गये। कई सेकेण्ड वह यों ही बना रहा। फिर एकाएक तिपाईका सहारा छोड़कर वह सीधा खड़ा हो गया और ज़रा जोशसे बोला—"यह काम तुम कर सकती हो, तुम !"

"मैं ?"—नलिनीके आश्चर्यका ठिकाना न था।

"हाँ, तुम। क्या तुम गाना-बजाना जानती हो ?"

"थोड़ा-बहुत।"

"तो इसे अच्छी तरह सीखो। इसमें प्रवीण हो जाओ। फिर बस्तीसे दूर किसी कुटियामें, जिसके इर्द-गिर्द फूल हों, लताएँ हों, झरने हों, इन्हें ले जाओ। फूलोंकी महकमें तैरते हुए, झरनोंके स्वर में स्वर मिलाते हुए, अपने गीत इन्हें सुनाओ और सुनाती जाओ। आशा है, कुछ ही महीनोंमें ये फिर ममताके बन्धनमें बँध जायँगे।"

डाक्टरका एक-एक शब्द नलिनीको अनूठी स्फूर्त्ति प्रदान कर रहा था। उसमें उत्साहकी बिजली दौड़ने लगी थी। उसके पति ठीक हो सकते हैं, वह फिर उन्हें पा सकती है। उसका हृदय प्रसन्नतासे उछलने लगा। रोकते-रोकते भी नेत्र आर्द्र हो गये। उत्तेजित स्वरमें बोली—"डाक्टर साहब, मैं जी-जानसे आपका बताया हुआ रास्ता पकड़ूँगी। आपने मुझे उबार लिया।"

"आखिर कोई दवाई भी तो देनी होगी ?"—पिताने पूछा

डाक्टर इस प्रश्नको सुनकर थोड़ा हँसा और बोला—"नहीं, और किसी दवाईकी ज़रूरत नहीं। इस रोगका यही इलाज है।"

इससे कुछ ही देर बाद डाक्टर ने अपनी फ़ीस लेकर उन्हें विदा कर दिया।

४

वे उसी रात लाहौरके लिए वापस चल दिये। हरेन्द्रके आरामको दृष्टिगत रखते हुए उन्होंने दूसरे दर्जेका एक छोटा डिब्बा रिज़र्व करा लिया था। गाड़ी कोई पौने दस बजे छूटती थी; परन्तु वे लगभग नौ बजे ही उसमें जा सवार हुए। बीचकी बर्थपर हरेन्द्रका बिस्तर लगा दिया गया और किनारेवाली दोनों बर्थें पिता और नलिनीने रोक लीं। चूंकि स्टेशनपर कोई विशेष शोर नहीं हो रहा था, इसलिए हरेन्द्र तो गाड़ी चलने से पन्द्रह मिनट पहले ही सो गया। गड़ी छूटनेके कुछ ही देर बाद पिताको भी नींद आ गई; पर नलिनीके नयनोंमें नींद का नाम तक न था।

गाड़ी घरघराहट शब्द करती हुई उड़ी जा रही थी। कौन जाने कितनी आशाएँ-निराशाएँ उसके साथ-साथ बह रही थीं। उस घरघराहट शब्द में एक अनूठा जादू था, जिसने नलिनी के हृदय को बेचैन कर दिया। विचारों की आँधी-सी उसके मस्तिष्क में छा गई। उस अद्भुत मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञ ने अपने पति को फिर से ममता में बाँधने का उत्तरदायित्व उस के ऊपर डाल दिया था। क्या वह सफल हो सकेगी? क्या वह सचमुच फिर पति को पा जायगी? इतना महान उत्तरदायित्व क्या उसके सँभाले सँभल सकेगा? इस सारे प्रयत्न का अभिप्राय तो होगा अपने सुखद अतीत को वर्तमान की बेड़ियाँ काटकर भविष्य में परिणत करना। उसका अतीत! वह कितना मधुर, कितना चित्ताकर्षक, कितना मस्ती में डूबा हुआ था? इतना सुन्दर, इतना विशाल-हृदय पति भी क्या किसी ने पाया होगा, जिसके कारण छः वर्ष का वैवाहिक जीवन

ऐसे बीत गया, मानो एक स्वर्गीय स्वप्न हो! उसी पति को फिर ममता में बाँधना होगा। ममता! क्या जाने ममता से ऊबकर ही उनका मस्तिष्क संसार से विमुख हो उठा हो। यदि यह बात हो, तो लाखों गीत, फूलों की महक का समुद्र, अनेक झरनों की चुलबुलाहट भी कुछ न कर सकेगी। तो क्या उसके सब प्रयास विफल होंगे?

वह उठकर बैठ गई। गाड़ी उसी तीव्र गति से बढ़ी जा रही थी। उसने खिड़की से बाहर झाँका। भागती हुई गाड़ी से प्रोत्साहन पाकर हवा के झोंके उसके चिन्तित चेहरे, अध-बिखरे कुन्तलों से अठखेलियाँ करने लगे। बाहर घोर अँधेरा था। लाइन के साथ-साथ जाती हुई वृक्षों की पंक्ति ऐसी मालूम दे रही थी, मानो काले देवों की सेना खड़ी हो। उन वृक्षों को चीरती हुई नलिनी की दृष्टि दूर क्षितिज तक पहुँचने के लिए छटपटाती ज़रूर; पर उस सघन तिमिर में भटककर ही रह जाती। कोई पाँच मिनट तक नलिनी ज्यों-की-त्यों बैठी रही। फिर एकाएक दूर किसी बस्ती में उसे ज्योति की एक टिमटिमाती रेखा दिखाई दी। उसका हृदय उछल पड़ा। तो इतने गहरे अन्धकार में भी ज्योति की एक लकीर खिंच सकती है। उसके मन में आशा का संचार हुआ। उसके अँधेरे वर्तमान में भी ज्योति जगेगी, इसका मानो किसी दैवी शक्ति ने उसे विश्वास दिला दिया हो। उसके पति की उसके प्रति ममता भले ही दूर हो चुकी हो, पर वह उसे फिर से जीवित करेगी—अवश्य करेगी।

यह सोचती-सोचती वह लेट गई। गाड़ी उसी तेज़ी से अन्धकार को चीरती हुई बढ़ी जा रही थी। उसकी घरघराहट में वही कम्पन थी; किन्तु नलिनी अब इससे बेखबर थी। वह तो अब अपने भविष्य के सुनहले काल्पनिक चित्र बनाने में तन्मय हो गई थी। बहुत देर तक वह कल्पना के तारों को उधेड़ती-बुनती रही। आखिर निद्रा ने उसे आ घेरा। उसकी आँखें मुँद गईं, और वह स्वप्न के संसार में खो गई।

५

घर पहुँचते ही नलिनी अपने संगीत-शिक्षक की तलाश में लग गई। उन दिनों सौभाग्य से बम्बई के सुप्रसिद्ध कलाकार गायनाचार्य हरिमोहन लाहौर में थे। नलिनी पता लगाती हुई उन के पास पहुँची। वे अधेड़ावस्था पार किये हुए एक सांसारिक मनुष्य थे। सीधे-सादे पुराने ढंग के आदमी थे—धोती-कुरता पहन कम्बल लपेट कर फिरने वाले। इसीलिए नलिनी को उन्होंने संशयात्मक दृष्टि से देखा। उनकी छोटी-छोटी आँखें और भी छोटी हो उठीं। सिरके बीच तक पहुँचते हुए मस्तक की लकीरें अपना अस्तित्व प्रकट करने लगीं। कुछ रूखे स्वर में बोले—"क्या चाहती हैं आप ?"

नलिनी डरी; पर डरने से तो यहाँ काम न चलेगा इसलिए सारा साहस बटोर कर मुसकराई और बोली—"मैं आपसे संगीत की दीक्षा लेना चाहती हूँ, गुरुदेव !"

"गुरुदेव !"—गायनाचार्य की वाणी और भी कठोर हो चली—"मैं लड़कियों को नहीं सिखाया करता, इसलिए क्षमा चाहता हूँ।"

"लेकिन मुझे तो आपको सिखाना होगा।"—इस स्वर में कुछ हँसी थी; पर अधिकतर गम्भीरता।

"सिखाना होगा ?"

"हाँ।"

"किस लिए ?"

"इसलिए कि मैं आपको एक कहानी सुनाने आई हूँ।"

"कहानी ?"

"हाँ, सुनिये।,,—नलिनीने उनकी स्वीकृति की प्रतीक्षा किये बिना ही अपनी कहानी शुरू कर दी। आरम्भ के एक-दो क्षण तो कलाकार महोदय की अन्यमनस्कता बनी रही। इसके अनन्तर नलिनी की कहानी की मार्मिकता और करुणा उनके हृदयमें प्रवेश पा गई। कहानी सुनते-सुनते

अतीत की कई स्मृतियाँ, जब वे भी यौवन के स्वप्निल संसार में घूमा करते थे, उनके मस्तिष्क में चित्र आँकने लगीं। कहानी समाप्त होते होते वे पूरी तरह जीते ही नहीं जा चुके थे, बल्कि बेचैन भी हो उठे थे। इसलिए वे अपने स्थान से उठकर कमरे में इधर-उधर डग भरने लगे।

नलिनी कहानी समाप्त करके कोई पाँच मिनट तक उनकी ओर देखती रही। उनके निर्णय की प्रतीक्षा में बैठी रही। फिर आहिस्ता से बोली—"मुझे क्या आज्ञा है? आपका क्या निर्णय है?"

"निर्णय?" उन्होंने मानो स्वप्न से जागकर कहा—"निर्णय यही कि मुझे अब तुम को शिक्षा देनी ही होगी। मेरी कला का तो जन्म ही इस दुखद संसार में आनन्द फैलाने के लिए हुआ है, इसलिए मेरी सब शक्तियाँ अब तुम्हारी सेवा में होंगी। यह तुम्हारी ही परीक्षा नहीं, बल्कि यह मेरी भी परीक्षा होगी।"

"मैं आपका किन शब्दों से धन्यवाद करूँ?"—नलिनी के नेत्रों से आँसू दुलक रहे थे।

"और"—वे इस तरह कहते चले गये, मानो नलिनी के शब्द उन्होंने सुने ही नहीं—"ईश्वर ने चाहा, तो तुम्हारी वाणी में वह मधुरता, वह प्रवाह भर दूँगा कि तुम्हारी विजय ही होगी।"

"सच?"

"बिलकुल। वह दो तो मेरी करताल। मैं तुम्हें एक गीत सुनाऊँगा।"

नलिनी ने करताल पकड़ा दी। कलाकार की कुशल अँगुलियों में काँसे के वे दो टुकड़े जीवित प्राणी की भाँति काँपने लगे। एक अनूठी ध्वनि उनसे निकलकर वातावरण से टकराने लगी। इसी ध्वनि के साथ गायक ने अपने कण्ठ-स्वर को मिला दिया। फिर क्या था, वातावरण झूमने लगा। नलिनी बेसुध-सी हो उठी। उसका हृदय गीत के एक-एक उतार-चढ़ाव के साथ नृत्य करने लगा। कोई पाँच मिनट के बाद हरिमोहन ने गीत समाप्त कर दिया।

"खूब ! अब मुझे विश्वास है, हम सचमुच विजयी होंगे।"

गायक ने केवल मुसकरा दिया। इससे अगले दिन ही नलिनी की शिक्षा आरम्भ हो गई। निश्चय तो यह हुआ कि हरिमोहन सुबह दो घंटे गाना सिखाया करेंगे; पर आगे चलकर कुछ ऐसी परिस्थिति पैदा हुई कि गुरु और शिष्या दोनों समय के बन्धनों से मुक्त हो गये। न हरिमोहन सिखाते हुए कभी अघाये, न नलिनी सीखती हुई कभी थकी। गुरु के चले जाने पर भी नलिनी अभ्यास में संलग्न रहती। फल यह निकला कि थोड़े ही समय में नलिनी प्रवीण होने लगी। कठिन से कठिन रागिनियाँ उसकी कठोर तपस्या के आगे नतमस्तक होने लगीं। अभी छः मास भी नहीं बीते थे कि वह अनुभव करने लगी कि अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए वह पूर्णतया तैयार हो चुकी है। अपनी कला के जौहर देखने के लिए वह अधीर हो उठी। आखिर एक दिन जब उससे न रहा गया, तो उसने अपना प्रस्ताव हरिमोहन के आगे रख दिया—"अब नहीं सहा जाता। यदि आप आशीर्वाद दें, तो पति को साथ लेकर अब मैं जाना चाहती हूँ।"

"जाना चाहती हो ?"—गुरुने शिष्या की ओर आधे क्षण के लिए एकटक देखा—"तुम जा सकती हो। जिस संघर्ष के लिए तुम जा रही हो, उसमें पूरा उतरने की अब तुम में पूरी शक्ति है, यह मैं मानता हूँ। मैं चाहता था कि तुम कुछ देर और सीखतीं।"

"किस लिए ?"

"इसलिए—" हरिमोहन रुक गये—"खैर, छोड़ो इसे, अपने स्वार्थ की बात आज न कहूँगा। तुम्हारे हृदय की व्याकुलता मैं भाँप सकता हूँ, इसलिए रोकूँगा नहीं। जाओ बेटी, विजयिनी हो, यही मेरा आशीर्वाद है। अपने सुख के दिनों में अपने इस बूढ़े गुरु को न भूलना।"

यह कहते-कहते हरिमोहन का गला भर आया।

६

बँगले का प्रबन्ध हो चुका था, इसलिए अगले ही दिन नलिनी

हरेन्द्र, एक नौकर और एक नौकरानी को साथ लेकर अपनी महत्त्वपूर्ण यात्रा के लिए चल दी। आज उसके हृदय में भावों का एक बवंडर-सा उठ रहा था, पर वह उसे मन-ही-मन समेटे मुख पर शान्त मुस्कराहट लाने में प्रयत्नशील थी। उसके सास, ससुर और हरिमोहन तीनों ने उनके साथ जाने के लिए आग्रह किया; किन्तु नलिनी न मानी। यह मुख्यतया उसका झगड़ा था, इसलिए वह स्वयं ही इसे निपटाना चाहती थी। हाँ, वे तीनों नलिनी और हरेन्द्र को गाड़ी तक पहुँचाने के लिए अवश्य आये हुए थे।

यद्यपि वे तीनों नलिनी को विदा और आशीर्वाद दे चुके थे, फिर भी गाड़ी चलनेके उपरान्त भी वे ज्यों-के-त्यों प्लैटफार्मपर खड़े जाती हुई गाड़ीकी ओर देखने लगे। नलिनी खिड़कीसे झाँक रही थी। प्लैटफ़ार्मपर लगी हुई बिजलीकी बत्तियोंके जगमगाते प्रकाशमें उन तीनोंके चेहरे नलिनीको साफ़ दीख रहे थे। कितनी करुणा खेल रही थी उनके चेहरोंपर। सासके नेत्रोंसे ढुलकते हुए आँसू भी नलिनीसे छिप न सके। नलिनी उद्विग्न हो उठी। लाख सँभलनेपर भी सँभल न सकी। उसके नेत्रोंसे भी आँसू बहने लगे। क्या जानें इस यात्रा का क्या अन्त हो? इतनी देर में गाड़ी काफ़ी दूर निकल आई थी और कुछ बल भी खाती जा रही थी। इसलिए वे तीनों मूर्तियाँ नलिनीकी आँखोंसे ओझल हो गईं। जो होगा, देखा जायगा। आज उसे कठोर बनना होगा। आज वह कल्पनाको मनमानी नहीं करने देगी। नलिनीने हाथोंकी मुट्ठियाँ बाँधते हुए निश्चय किया। उसने आँसू पोंछ डाले, और खिड़कीसे हट गई। उसका पति शान्त भावसे अपने स्थानपर लेटा पड़ा था। वह अभी सोया नहीं था और नलिनीकी ओर देख रहा था। उसके ऊपरका कपड़ा अस्त-व्यस्त-सा हो रहा था। नलिनीने उसे ठीक कर दिया और अपने स्थानपर जा बैठी।

गाड़ीकी गति अब तीव्र हो चली थी। नलिनी लेट गई और एकाग्र-चित्त होकर सोनेकी चेष्टा करने लगी। चाहे कुछ भी हो, आज वह भावों

को मस्तिष्कमें नहीं घुमने देगी। भावोंको तो वह रोक न सकी; परन्तु इस प्रयत्न में उसे टूटी-फूटी नींद अवश्य आ गई।

अभी पौ फटनेमें काफ़ी देर थी, जब नलिनीकी आँख खुल गई। उसने कलाईपर बँधी घड़ीकी ओर देखा, जिससे अनुमान हुआ कि गाड़ी अब कालका स्टेशनकी ओर बढ़ी जा रही है। वहीं उतरकर उन्हें शिमला जानेवली गाड़ीको पकड़ना था।

शिमलेसे इस तरफ़ एक छोटा-सा स्टेशन है शोघी। वहीं उनकी यात्राका अन्त था, क्योंकि उससे लगभग एक मीलके अन्तरपर चीड़के गगनचुम्बी वृत्तोंमें छिपा हुआ हरेन्द्रका बंगला था।

जब ये लोग बंगलेके निकट पहुँचे, तब दोपहरी ढलनेमें काफ़ी देर थी। उस समय आकशमें बादलोंके कुछ टुकड़े इधर-उधर उड़ रहे थे। ठंढी, परन्तु मन्द पवनके झोंके चीड़के वृत्तों और जंगली फूलोंसे टकराकर उन थके यात्रियों के चेहरोंपर मंद-मंद थपकियाँ देने लगे। हरेन्द्र की कौन जाने, परन्तु नलिनीकी आधीसे अधिक थकान उन झोंकोंने हर ली। बँगलेपर पहुँचकर तो नलिनीका हृदय प्रफुल्लित हो उठा।

उस बँगलेके तैयार करने में डाक्टर जोशुआ के एक-एक आदेशका अत्तरशः पालन किया गया था। बँगलेके चारों ओर फूलों और लताओंका एक अनूठा संसार बसाया गया था। फूल भी थे एकसे एक बढ़कर। इतने चित्ताकर्षक रंग, इतनी मादक गंध कि स्वर्गको जाते हुए देवता भी उनके जादूसे प्रेरित होकर कुछ त्तणोंके लिए वहाँ रुकनेके लिए विवश हो जायँ। इस वाटिकासे कुछ ही दूरीपर एक जल प्रपात था, जिसका निर्मल जल सरिताके रूपमें उछलता-कूदता वाटिकाके कुछ पौधोंसे टकराता हुआ जा रहा था। एक जरा संग रास्ता वाटिकाको चीरता हुआ बँगले तक जा निकला था। ये सब लोग उसी रास्ते से होते हुए बँगले तक जा पहुँचे। चौकीदार इनकी प्रतीत्तामें खड़ा था। उसने झुककर नलिनी और हरेन्द्र को सलाम किया।

"क्या बँगला ठीक तरहसे साफ़ कर दिया गया है?" नलिनीने पूछा।

"जी हजूर,"—चौकीदारने अदबसे जवाब दिया—"बड़े कमरेमें मैंने आग भी जला दी है और खाने-पीनेका भी थोड़ा-बहुत बन्दोबस्त कर दिया है।"

"शाबाश! अच्छा इन्हें"—अपने नौकर और नौकरानीकी ओर संकेत करते हुए उसने कहा—"तुम रसोईघरमें ले जाओ।"

कोठीसे थोड़ी ही दूरीपर रसोईघर और नौकरोंके कमरे थे। चौकीदार उन नौकर-नौकरानीको लेकर उधरको चल दिया, और नलिनी हरेन्द्रको लिए बँगलेमें घुस गई। हरेन्द्रको उसने अग्निके निकट एक सोफ़ापर बिठा दिया और स्वयं बँगलेके निरीक्षणमें लग गई। बँगलेके बनवानेमें ही पूर्ण सुरुचिका परिचय नहीं मिलता था, बल्कि उसके सजानेमें भी। उसकी सजावटमें कलाका प्रदर्शन तो था ही; पर साथ ही साथ उनके आरामकी छोटी-से-छोटी बातका भी पूरा ध्यान रखा गया था। बँगला देखकर नलिनी को पूर्ण सन्तोष हुआ। इस परिस्थितिमें, इस वातावरणमें, भी यदि वह विफल हुई, तो वह महा अभागिन होगी, उसने सोचा।

७

अपने पतिको पुनः ममताके बंधनमें बाँधनेका प्रयास करते हुए नलिनीको लगभग आठ मास हो गये थे। इतने कालमें इस दिशामें उसने जो उन्नति की थी, उसे असन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता।

आरम्भमें कोई बीस दिन तक तो नलिनी के वाद्य-यंत्रोंकी झंकार और उसके मधुर गीत हरेन्द्रके हृदयकी किसी भी तंत्रीको छू न सके। हरेन्द्र उस संगीतके प्रवाहमें भी ऐसे बैठा रहता, मानो पत्थरकी मूर्ति हो। फिर नलिनीके गीतोंके प्रति उसका मन कुछ-कुछ आकर्षित होने लगा। मुखसे तो वह कुछ न बोलता; लेकिन उसके नेत्रोंसे साफ़ झलकता कि नलिनीके गीत उसके जीवनमें एक रोचकता पैदा कर रहे हैं।

"रो रही हूँ ? नहीं तो।"—नलिनी ने झटपट आँसू पोंछ डाले। सहसा उठ खड़ी हुई और मुस्कराती हुई पति के सामनेवाली कुर्सी पर जा बैठी।

"नलिनी, तुम कौन हो ?"—हरेन्द्र ने पूछा।

"मैं तुम्हारी नलिनी हूँ।"

"और मैं कौन हूँ ?"

"तुम हो मेरे प्राणनाथ ! मेरे पति !"

"पति ?"—हरेन्द्र ने चकित होकर नलिनी की ओर देखा।

नलिनी का माथा ठनका। मालूम देता है, सब कुछ भूल गये। अब ? "क्या आप मुझे पहचानते नहीं ?"

"क्यों नहीं। तुम्हें भूल ही कैसे सकता हूँ। तुम्हें तो मैं अपने हृदय की रानी बनाऊँगा।"

"बनाऊँगा ?" सचमुच भूल गये। नलिनी का गला भर आया। छः वर्षों के वैवाहिक जीवन की सारी घनिष्ठता छूमन्तर हो गई। उसे प्रियतम अवश्य मिल गया; पर पति तो खो गया। क्या इसे कोई उसकी विजय कह सकता है ? नलिनी ने हरेन्द्र के प्रफुल्लित चेहरे की ओर देखा, और असमंजस में पड़ गई।

आदर्श-भ्रष्टा

जया की तबीयत उस दिन कुछ खराब थी, इसलिए उसने चाय अपने कमरे में ही मँगवा ली। नौकर चाय का सामान रख कर अभी बाहर निकला ही था कि सुलोचना ने तेजी से प्रवेश किया।

"विभा के विषय में कुछ सुना ?"—उसने उत्तेजित स्वर में कहा।

"क्यों, क्या हुआ ?"—जया ने चिन्ता-मिश्रित उत्सुकता से पूछा।

"वह अपने पति को छोड़ कर कल यहाँ आ गई है।"

"क्यों ?"

ठीक उसी समय टैनिस का रैकिट बग़ल में दबाये अपने अधकटे बालों से छेड़-छाड़ करती प्रेमा वहाँ आ धमकी।

"क्या हो रहा है जया ? अहा ! सुलोचना तुम भी हो। क्या षड-यन्त्र रचा जा रहा है ?"

"विभा की बात सोच रही थी।"

"विभा की ? उसके लौटने की ?"

"हाँ !"

प्रेमा ने अपने ओंठों को बल दिया और ऐसे स्वर में बोली मानो संसार भर का ज्ञान उँडेल रही हो।

"उसको तो लौटना ही था। मुझे तो यह हैरानी है कि विभा जैसी सुसंस्कृता तथा साहित्य-प्रिया उस गँवार के साथ एक वर्ष कैसे काट सकी।"

"गँवार ?"—सुलोचना ने आश्चर्य से प्रेमा की ओर देखा।

"गँवार नहीं तो और क्या ?"—प्रेमा जरा जोश से बोली—"महीनों वह बाल नहीं बनवाता, दाढ़ी उसकी बढ़ी रहती है। कपड़ों की उसे होश नहीं। उसके साथ कौन स्त्री रह सकती है ?"

"किन्तु विज्ञान-संसार में तो उसकी धूम है।"—सुलोचना ने कहा।

"होगी। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि एक अच्छा वैज्ञानिक एक अच्छा मनुष्य भी हो। वह अपनी प्रयोगशाला का प्रियतम हो सकता है; किन्तु पत्नी का नहीं।"

"मुझे विश्वास है कि विभा निर्दोष होगी; परन्तु फिर भी उसे इतना बड़ा क़दम न उठाना चाहिए था।"

जया गम्भीर स्वर में कहने लगी—"आखिर प्रबोध विभा का स्वामी है।"

"परमेश्वर है, देवता है"—प्रेमा व्यङ्ग से ओत-प्रोत स्वर में जया

की बात को काटती हुई कहती चली गई—"विभा को उसके चरण धो-धो कर पीने चाहिएँ थे। यही कहने जा रही थी न ?"

"मान लो यही, फिर ?"—जया की वाणी में चुनौती थी।

"फिर यही कि जहाँ तक पता चला है विभा भी यही आदर्श ले कर अपने पति के यहाँ गई थी। परन्तु क्या वह इस आदर्श को निबाह सकी ? निबाह ही कौन सकता है ?"

"परन्तु क्यों नहीं निभा सकी ?"—जया ने ऐसे कहा जैसे ऊँचे स्वर में कुछ सोच रही हो।

"यह वही जाने। पूछ देखो। शायद तुम्हें बता दे। वह इस समय घर पर ही है।"

"सच ?"

"हाँ, परन्तु अभी न भाग उठना। उस बेचारी चाय की सुध तो ले लो। ठण्ढी हुई जा रही है।"

"क्षमा करना। चाय को मैं भूल ही गई थी।"—जया ने लज्जित स्वर में कहा। दो प्याले और मँगवा कर प्यालों में चाय ढालने लगी।

२

चाय पीकर सुलोचना और प्रेमा तो टैनिस खेलने चल दीं और बिलकुल स्वस्थ न होते हुए भी जया ने विभा के घर का रास्ता पकड़ा।

विभा कोठी के बाहर लॉन में अपने छोटे भाई के साथ गेंद खेल रही थी, हँसती उछलती हुई। किन्तु उस हँसते चेहरे के ऊपर चिन्ता की एक छाया साफ़ दृष्टिगोचर थी। जया को देख कर उसने खेल बन्द कर दिया और मुस्कराती हुई उसके स्वागत के लिए आगे बढ़ी। सूखी हँसी हँस कर बोली—"आओ जया, बड़ी कृपा की। मालूम देता है आँधी की भाँति उड़ती हुई मेरी ख्याति तुम्हारे तक भी पहुँच गई।"

"हाँ, मैंने अभी-अभी सुना है कि तुम आई हुई हो।"

"आई हुई नहीं, आ गई हूँ, सदा के लिए।"—विभा का स्वर भारी

होने लगा; पर वह शीघ्र ही अपने ऊपर प्रभुत्व पा गई।

"लेकिन क्यों ?"—जया की आवाज़ सहानुभूति से ओत-प्रोत थी।

"लम्बी नीरस कहानी है, सुन कर क्या लोगी? परन्तु यदि जरूर समय नष्ट करना चाहती हो तो आओ, बैठो। तुम से कुछ छिपाऊँगी नहीं। छिपा सकती ही नहीं।"

"जानती हूँ जीजी। तुम्हारी कृपा-दृष्टि में ही तो कॉलेज का जीवन बीता है।"—जया गद्गद हो उठी

विभा जया से दो वर्ष बड़ी थी। उसे एम० ए० पास किये भी दो वर्ष हो चुके थे। जया इस बार एम० ए० दे रही थी। निस्सन्देह कॉलेज में जया के प्रति विभा का व्यवहार बहुत ही वात्सल्यपूर्ण रहा। कॉलेज के पहले दिन से ही विभा ने भोली-भाली जया को अपनी स्नेहछाया में ले लिया था। इसलिए जया विभा को बहुत मानती थी।

लॉन के एक कोने में दो-चार कुर्सियाँ पड़ी थीं। विभा जया को ले कर उधर को बढ़ चली।

"जीजी, मैं अब जाऊँ?"—कुछ ही दूरी पर खड़े उसके भाई ने पूछा—।

"हाँ सुमेर तुम अब खेलो।"—जया को एक कुर्सी पर बैठने का आदेश करते हुए विभा ने जवाब दिया।

सूर्यास्त हो रहा था। उसकी लालिमा चारों ओर फैल रही थी। विभा ने बड़े-बड़े नेत्रों से एक क्षण के लिए अध-छिपे सूर्य के गोले की ओर देखा। उसकी लालिमा से रञ्जित अपनी सफेद रेशमी साड़ी के छोर को, जो उस के सुनहले कुन्तलों पर से खिसक रहा थी, ठीक किया और जया के सामने वाली कुर्सी पर बैठ गई। "लो सुनो जया।"

"मैं दत्त-चित्त हूँ जीजी।"

"प्रथम भेंट से ही आरम्भ करती हूँ।"

"बहुत अच्छा!"

३

"कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी! उस दिन कुछ बूँदा-बाँदी भी हो रही थी।"—विभा ने कहना आरम्भ किया—"एक शाल में लपेट कर घर वालों ने मुझे उनके कमरे में धकेल दिया। कोई आधे क्षण के लिए मैं कमरे में खोई-सी, डरी-सी खड़ी रही। फिर अपने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। कमरा बिजली की प्रखर ज्योति से प्रकाशमान था! खिड़कियों और दरवाज़ों पर गहरे नीले रङ्ग के पर्दे पड़े हुए थे। कमरे में सभी ओर किताबें बिखरी हुई थीं। दरी पर, सोफ़े पर, कुर्सियों पर सभी जगह किताबों के ढेर लगे थे।

"पुस्तकों के ढेर देख कर मैं उल्लसित हो उठी। एक कोने वाली कुर्सी पर केवल एक-दो किताबें पड़ी थीं। फ़र्श पर बिखरी पुस्तकों में उलझती हुई मैं उस ओर बढ़ी। कुर्सी वाली पुस्तकों को उठा कर मैंने नीचे रख दिया और उस पर बैठ गई! फिर उत्सुकता से इधर-उधर की किताबें उठा कर देखने लगी। लेकिन मेरे काम की वहाँ एक भी पुस्तक न थी। सभी पुस्तकें आईनस्टन की थ्योरी ऑफ़ रैलेटिविटी, एटम, मॉलिक्यूल आदि शुष्क विषयों पर थीं। मैंने उन्हें देखना बन्द कर दिया और पतिदेव के आने की बाट जोहने लगी!

"कोई दस मिनट तक मैं चुपके से बैठी उन के पाँवों की आहट सुनने में प्रयत्नशील रही। फिर मन ऊबने लगा। अपने चारों ओर देखा। करूँ तो क्या। क्यों न इन पुस्तकों को ही क़रीने से लगा दूँ। दीवार के साथ कुछ आलमारियाँ रखी थीं और प्रायः सब की सब ख़ाली पड़ी थीं। मैंने किताबें उठा-उठा कर उन में लगानी आरम्भ कर दीं। कोई आध घण्टे में यह काम भी निबट गया!

अब! इतने में बाहर आहट हुई। मैं चैतन्य हो कर बैठ गई। कुछ सेकेण्ड के बाद पर्दे को एक ओर को हटाते हुए उन्होंने प्रवेश किया। मैं उठ कर खड़ी हो गई और उन की ओर देखा। वे कोहनियों से फटा एक

पुराना सूट पहने थे। दाढ़ी और सर के बाल बढ़ रहे थे। परन्तु नेत्रों में एक अलौकिक ज्योति थी, आकर्षण था। ऐसा प्रतीत होता था कि इस लोक के प्राणी नहीं। तो ये हैं मेरे पति परमेश्वर, जिन के साथ मुझे आयु बितानी होगी। क्या मैं बिता सकूंगी! मेरे हृदय में संशय की एक लहर दौड़ गई और मैं सिर से पाँव तक काँप उठी। वर्षों से सञ्चित मेरे संस्कारों ने मुझे धिक्कारा। इसलिए अपने कुविचारों पर आधिपत्य जमाने का मैंने एक महान प्रयत्न किया। कुछ लजाते हुए मुस्करा कर मैंने उन का स्वागत किया।

"ओहो तुम हो!"—उन्होंने उड़ती हुई दृष्टि से एक बार मुझे देखा—"बैठ जाओ, खड़ी क्यों हो?"

मैं सिमटती हुई अपनी जगह पर बैठ गई। पास वाली कुर्सी उन्होंने ले ली। शून्य नेत्रों से चारों तरफ़ देखने लगे। ऐसा मालूम देता था जैसे उनका मन कहीं और विचर रहा है। एकाएक बोल उठे—"अभी फिर जाना होगा।"

मैं चुप रही। पर इस की परवाह ही किसे थी? अपने आप कहते चले गये—"एक्सपैरिमैण्ट बीच में छोड़ कर आया हूँ। उसे पूरा करना ही होगा। शायद रात प्रयोगशाला में ही काटनी पड़े।"

मैं फिर भी चुप रही।

इस के अनन्तर वे उठ कर खड़े हो गये। उतावली से कमरे में डग भरने और सर खुजलाने लगे। फिर सहसा खीझ कर बोले—"यह तुमने क्या किया?"

"क्या?"—घबरा कर मेरे मुख से निकला।

"किताबें सब कहाँ गईं?"

"अलमारियों में रख दी गई हैं।"

"क्यों? उफ़! तुमने कितना अनर्थ कर डाला।"

"अनर्थ?"—मेरा चेहरा क्रोध और लज्जा से लाल हो गया।

"अनर्थ नहीं तो क्या ? तुमने किताबें इधर-उधर कर के मेरे अध्ययन का सिलसिला तोड़ डाला। तुमको क्या पता कि उन्हें ढङ्ग से रखने में मुझे कितनी तकलीफ़ हुई थी।"

"ढङ्ग से ?"—मुझे हँसी आ गई। व्यंग्य से बोली—"भूल हो गई। क्षमा चाहती हूँ।"

इससे वे थोड़ा पिघले। मेरी ओर बढ़ते हुए बोले—"कोई बात नहीं। किसी दिन सब फिर ठीक कर लूँगा।"

यह कह वे अलमारियाँ खोलने लगे और एक के बाद एक किताबें देखने लगे। काफ़ी देर वे इसी काम में व्यस्त रहे, फिर सहसा कलाई पर बँधी घड़ी की ओर देखा।

"ओहो! अब मुझे चलना चाहिए।"—यह कहा और खट-खट करते कमरे से बाहर हो गये।

मेरे जी में तो आया कि सामने दीवार के साथ पटक कर सिर फोड़ डालूँ; परन्तु साहस न पकड़ सकी। कुर्सी से उठ कर अपने कमरे के दरवाज़े बन्द कर दिये। फिर सोफ़े पर जा पड़ी और सिसकियाँ भर कर रोने लगी। कौन जाने कब तक रोती रही; क्योंकि प्रातः जब मेरी आँख खुली तो मैं सोफ़े पर ही पड़ी थी और सर्दी लग जाने के कारण मेरे अङ्ग-अङ्ग में पीड़ा थी।"—यह कह कर विभा रुक गई।

अब तक सूर्य पूर्ण रूप से डूब चुका था। लालिमा का स्थान सन्ध्या की घनी छाया ने ले लिया था। लॉन के किनारे वाले सफेदे के वृक्ष पर एक पक्षी पङ्ख फड़फड़ा रहा था। शायद विरह-व्याकुल था। विभा कई क्षण उसकी ओर देखती रही। फिर सहसा उठ खड़ी हुई। बोली—"अब अँधेरा हो चला है। चलो अन्दर चलें।"

"चलो !"—जया ने भी कुर्सी छोड़ दी।

स्नेह से उसकी कमर में हाथ डाल कर उसे साथ लेती हुई विभा कोठी की ओर बढ़ने लगी।

४

जया को एक आराम-कुर्सी पर बिठा कर स्वयं खड़े-खड़े ही विभा ने फिर कहना आरम्भ किया—"दिन पर दिन बीतते चले गये; किन्तु मेरे प्रति उनकी विमुखता ज्यों की त्यों बनी रही। यह ठीक है कि इस तरह का बर्ताव वे जान-बूझ कर नहीं कर रहे थे; बल्कि वे अपनी प्रयोगशाला में इतने तल्लीन थे कि उन्हें संसार की सुध-बुध ही न थी? इसलिए इस आशा में कि हाथ वाले एक्सपैरिमैण्ट से छुट्टी पाकर शायद उनकी कृपा-कोर मुझ पर भी हो जाय, मैं प्रतीक्षा करने लगी। परन्तु कहाँ? एक एक्सपैरिमैण्ट अभी समाप्त नहीं हो पाता था कि दूसरा आरम्भ हो जाता। इस भाँति कई महीने बीत गये। मेरा सन्तोष हाथों से निकलने लगा। मन में बेचैनी की अग्नि प्रज्वलित होने लगी। जी में तो आता था कि उस सब कुछ को लात मार कर कहीं चल दूँ; पर हिन्दू नारी थी। आदर्शों की गोद में पली हुई। अङ्गरेजी पढ़ने के अतिरिक्त भी शास्त्रों की पृष्ठ-भूमि के सहारे अपना रास्ता तय करने की शिक्षा प्राप्त किए हुए मन को कहानियों और प्रमाणों के बल पर ढाढस देने लगी। उन रुपहली रोमांसों ने कुछ दिन रिझाया ज़रूर; परन्तु हृदय में भड़कती हुई अग्नि उन्हें एक-एक कर के भस्म करने लगी। आखिर उनका जादू भी छू-मन्तर हो गया। तब मैंने पतिदेव से खुल कर बात करने का निश्चय कर लिया।

"ज़रा ठहरिए! मैं आप से एक जरूरी बात करना चाहती हूँ।" वे अपना फटा सूट पहन कर प्रयोगशाला को जा रहे थे। मेरी बात सुन कर रुक गये।

"कहो।"

"क्या आप जानते हैं कि मेरा भी एक हृदय है, मेरे भी कुछ अधिकार हैं। मैं…"

"तुम्हारे अधिकार" मेरी बात को बीच ही में काट कर बोलने लगे—"क्यों नहीं! मैंने तो अपने जानते तुम्हारे अधिकारों का सदा आदर

किया है ।"

"अच्छा ।"—मेरी वाणी में छुरी की तेज धार-सा व्यंग्य था—"पर मुझ अन्धी को तो वह कभी दीखा नहीं ।"

"दीखा नहीं !"—वे सोच में डूब गये । फिर एका-एक पूछने लगे—"तो क्या तुम बड़े बँगले में रहना चाहती हो ?"

"नहीं !"—मैंने दाँत पीस कर जवाब दिया ।

"क्या मोटर के लिए तरस रही हो ?"

"नहीं !"—मैं झल्ला उठी ।

इसके बाद वे फिर सोच में पड़ गये । कुछ देर बाद मुस्कराये और सहसा बोले—"अब समझा हूँ । तुम्हें साड़ियों की जरूरत होगी ।"

यह कह कर वे कोने में पड़ी मेज की ओर बढ़ गये । वहाँ से चेक-बुक उठाई और जेब से क़लम निकाल कर कहा—"बोलो कितने का चेक काटूँ ? एक हजार का ठीक रहेगा ?"

मेरे क्रोध का ठिकाना न रहा । मेरे मनोभावों का इस तरह उपहास होगा, भूल कर भी न सोचा था । पागलों की भाँति उठी । चेक-बुक उनके हाथ से छीन ली और जमीन पर पटकते हुए मैं चिल्लाई—"आप जाइए ।"

'परन्तु मैं समझता…"

"नहीं, आप जाइए !"

मैंने ढकेल कर उन्हें कमरे से बाहर कर दिया और स्वयं पृथ्वी पर लोट गई । मुझे यूँ पड़े-पड़े दो ही मिनट गुजरे थे कि बाहर से किन्हीं के बातें करने का शब्द हुआ । मैं झटपट उठ बैठी । अपने को सँभालती हुई एक कुर्सी पर जा गिरी । इतने में मेरी सास और ननद ने कमरे में प्रवेश किया ।

"बहू, कुछ बात बनी ?"—मेरी सास ने छूटते ही पूछा । उनके स्वर में सहानुभूति थी, पर मुझे उस समय वह विष से बुझा हुआ मालूम दिया ।

"कैसी बात ?"—मैंने टेढ़े होकर कहा ।

"बहू, हमसे क्या छिपाती हो।"—वे मेरी पीठ पर हाथ फेरने लगीं—"हमारा तो ख्याल था कि विवाह के बाद यह बात न रहेगी। तुम्हारी मोहनी मूरत का जादू घर के प्रति उसकी बेपरवाही को तोड़ डालेगा।"

मोहनी मूरत! तो सब कुछ जानते-बूझते इन्होंने मुझे एक पत्थर के साथ बाँधा है। मैंने झटका देकर सास का हाथ परे हटा दिया और उठ कर सीधी खड़ी हो गई—"सारी बात अब समझी हूँ। तो आप लोग एक जादूगरनी की तलाश में थीं और मुझे पकड़ लाईं। अपने स्वार्थ के लिए आपने यह अनर्थ ढाया है। मेरा जीवन नष्ट कर दिया।"

"जीवन नष्ट कर दिया?"—मेरी सास चण्डी-रूप धारण करती हुई बोलीं—"मेरा लाल पाँच सौ पाता है। दमड़ी का उसे ऐब नहीं। सिगरेट तक तो पीता नहीं। तुम्हें और चाहिए ही क्या था? कृतघ्ना कहीं की।"

मैं भौचक्की-सी रह गई। अभी मेरे साथ सहानुभूति-प्रदर्शन हो रहा था। एक क्षण में ही तेवर बदल गये। क्रोध और आश्चर्य से मेरे नेत्र आँसुओं से भर आये। परन्तु उनके सामने मैं अपनी दुर्बलता नहीं दिखाना चाहती थी। इसलिए आँसुओं को रोकने की कोशिश करती हुई भाग कर पास वाले कमरे में चली गई।"

"दोपहर को जब वे प्रयोगशाला से लौटे तो मैं सामान बाँध कर तैयार बैठी थी।

"अरे! यह किसका सामान है?"—उन्होंने आश्चर्य से मेरी ओर देखा।

"मेरा।"

"क्यों, क्या बात है?"

"घर जा रही हूँ।"

"घर? तुम्हारा घर तो अब यहीं है।"

"इसे मैं अपना घर बना पाती तो कितना अच्छा होता!"—रोकते-

रोकते भी मेरा गला रूँध गया।

शायद मेरी अवस्था का अनुमान उन्हें हो गया था; क्योंकि इस बार बहुत कोमल स्वर में बोले—"क्या तुम्हारा जाना बहुत ज़रूरी है? क्या तुम रुक नहीं सकतीं?"

"नहीं!"—मेरे हृदय के अन्दर जो हलचल छिड़ रही थी उसे सँभालने की शक्ति ईश्वर से माँगते हुए मैंने निश्चयात्मक स्वर में कहा।

"रुक जातीं तो अच्छा था।"—इस बार उनके स्वर में वात्सल्य था।

"अब मुझे कठोर होना होगा। यदि आज का मेरा प्रयत्न विफल हुआ तो मैं सदा के लिए बन्दिनी हो जाऊँगी।"—मैंने सोचा और चुप रही।

मुझे चुप देख कर वे फिर बोले—"ख़ैर, मैं तुम्हें रोकता नहीं। पर लौटोगी कब?"

"शायद कभी भी नहीं।"

"परन्तु क्यों, तुम्हें यहाँ क्या कष्ट है?"

"कुछ भी नहीं।"

"फिर जाती क्यों हो?"

"दुर्भाग्य खींच कर लिये जा रहा है।"—अब मैं न सँभल सकी। नेत्रों से आँसू ढुलक पड़े। मैंने झटपट उन्हें पोंछ डाला और ओठों पर झूठी मुस्कराहट ले आई।

वे मेरी ओर एक क़दम बढ़े, फिर रुक गये, बोले—"तुम्हारी गाड़ी कब छूटती है?"

"एक घण्टे तक। क्यों?"

"सोच रहा था कि तुम्हें गाड़ी पर चढ़ा आऊँ।"

"क्यों, भय है कि कहीं स्टेशन से न लौट पड़ूँ?"

"नहीं, यह बात नहीं विभा। मेरे साथ इतना अन्याय न करो।"—उनके चेहरे पर की पीड़ा के चिह्न साफ़ दृष्टिगोचर थे।

मैं लज्जित हो गई; परन्तु टेक न छोड़ी—"यह बात न सही। फिर भी आप को तकलीफ़ होगी। प्रयोगशाला वापस पहुँचने में देर होगी।"

"एक दिन की थोड़ी देर से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं।"

"सच ?"—मैंने चोट करते हुए कहा। परन्तु उन पर इसका कुछ प्रभाव न पड़ा। चुपके से पास पड़ी हुई कुर्सी पर बैठ गये—"तुम खा-पी भी चुकी हो कि नहीं ?"

"खा चुकी हूँ। धन्यवाद।"

"पन्द्रह मिनट के बाद हम स्टेशन के लिए चल पड़े। मेरी सास और ननद ने भी स्टेशन तक साथ जाने का आग्रह किया। परन्तु वे न माने। इसके लिए मैं उनकी कृतज्ञ हूँ।

"जया, जिस समय मैं और वे केवल हम दोनों टाँगे में बैठ कर जा रहे थे तो कौन कह सकता था कि मैं सदा के लिए उन्हें छोड़ रही हूँ।"

यह कहते-कहते विभा की आवाज़ भारी हो उठी। नेत्रों में आँसू चमकने लगे। उन्हें छिपाने की ग़रज़ से वह कमरे में टहलने लगी। थोड़ा सँभल गई तो फिर कहना आरम्भ किया—"जब हम स्टेशन पर पहुँचे तो गाड़ी छूटने में काफ़ी देर थी। उन्होंने मेरे लिए सेकेण्ड क्लास का एक टिकट ख़रीदा। फिर मैं उनके साथ-साथ प्लेटफ़ार्म पर पहुँची। एक अच्छी-सी जगह देख कर उन्होंने मेरा सामान लगवा दिया और अपने हाथ से खींच कर मुझे एक ख़ाली बर्थ पर बिठा दिया।"

"अब आप जा सकते हैं।"—मैंने कहा—"इस कृपा को आयु-पर्यन्त न भूलूँगी।"

"कृपा !"—उन्होंने ज़रा आश्चर्य से मेरी ओर देखा—"ख़ैर यही सही।"—कुछ देर वे चुप रहे, फिर बोले—"यदि हो सके तो लौट आना।"

"जवाब की प्रतीक्षा किये बिना ही उन्होंने हाथ जोड़ कर मुझे नमस्ते

की ओर मुड़ कर द्रुतगति से प्लेट-फ़ार्म से बाहर हो गये। उनके चले जाने के बाद मेरे हृदय और आँखों ने जो खेल रचा, उसके विषय में कुछ न कहूँगी।"

यह कह कर वह रुक गई। कुछ देर बाद बोली—"बस, जया यही है मेरी कहानी। किसे सुनाऊँ इसे? समझ ही कौन सकता है? संसार की दृष्टि में तो मैं एक पथ-भ्रष्टा हूँ।"

"पथ-भ्रष्टा?"

"हाँ! किन्तु संसार भूल कर रहा है। मैं पथ-भ्रष्टा तो नहीं, पर आदर्श-भ्रष्टा ज़रूर हूँ।"—विभा ने एक दीर्घ निश्वास ली।

"जीजी!" सहसा जया ने पूछा—"यदि जीजा जी तुम्हें स्वयं यहाँ लेने के लिए आ जायँ तब?"

"तब!"—विभा कुछ देर असमञ्जस में पड़ी रही—"तब क्या जाने क्या हो। जया, आखिर वे मेरे स्वामी हैं।"

जया का हृदय प्रफुल्लित हो उठा। नेत्र हर्ष से सजल हो गये। विभा के ओठों पर भी एक मधुर-मुस्कान खेलने लगी।

यौवन का युग

वे दोनों—उनका इकलौता बेटा रमेश और एक मोटी मोटी आँखों और हँसते हुए होंठोंवाली अजनबी लड़की—लाला हरिकिशोर के पास से तीर की भाँति निकल गये। लाला जी आँखें फाड़े अवाक्-से उन दोनों की ओर देखते ही रह गये। लड़की के नमस्ते का जवाब तक न दे सके। उनके देखते ही देखते रमेश उस लड़की को लिये अपने कमरे में घुस गया। इसका क्या मतलब, यह लाला हरिकिशोर ने सोचा। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ दिन पहले उन्हें जब रमेश के कमरे में सिगरेटों के टुकड़े और राख इधर-उधर बिखरी पड़ी मिली थी तभी वे समझ गये थे कि उनका लाल

जीवन की 'विभूतियों' का रसास्वादन करने लगा है। पर बात यहाँ तक बढ़ जायगी, यह उन्हें स्वप्न में भी आशा न थी। उस दिन तो वे सन्तोष का घूँट पीकर रह गये थे। पर आज तो उन्हें इस मातृ-विहीन लड़के से दिल खोल कर बातें करनी ही होंगी। अभी तक मीठी लगती आ रही धूप से सहसा उनके शरीर से चिनगारियाँ फूटने लगीं। वे उठ खड़े हुए और दोनों ओर के सफ़ेदे के वृक्षों की छाया में छिपे कोठी तक पहुँचनेवाले काफ़ी लम्बे पथ पर टहलने लगे। समय द्वारा अंकित उनके माथे पर की टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें गहरी हो उठीं। झुर्रियोंदार चेहरे से घिरे हुए ज्योति-हीन नेत्र और भी ज्योति-हीन हो उठे। हृदय की हलचल हाथों के द्वारा अपना अस्तित्व प्रदर्शित करने लगी। उस दिन से कोई बीस वर्ष पूर्व जब एक दिन उनकी जीवन-सहचरी अपनी केवल एक किरण को छोड़कर उनसे विलग हुई थी तब उस दिन भी उनके हृदय में लगभग इसी भाँति छेड़-छाड़ हुई थी। तो अब क्या कोई उनसे उनका बेटा छीनना चाहता है ? वे काँप उठे। माथे से पसीने की एक-दो बूँदें टपक पड़ीं। पर तब तो यह सब कुछ नहीं हुआ था। यौवन की अग्नि ने उतनी गहरी चोट को भी इस भाँति छिपा लिया था। अपने ऊपर वे इतना जबर्दस्त प्रभुत्व पा गये थे कि देखनेवाले हैरान थे। और अब एक काल्पनिक चोट-द्वारा इस भाँति तिलमिला उठे हैं। वे अपने आप पर लज्जित हो उठे। पर क्या सचमुच वे कल्पना का पागल-पन का पथ तो नहीं पकड़ रहे थे ? शायद उन सिगरेट के टुकड़ों और इस लड़की में कुछ भी न हो। एक लड़के का एक लड़की को साथ लेकर घूमने में है ही क्या ? पर उनके समय में तो ऐसा नहीं होता था। उनका समय...

इतने में कोठी के अन्दर से तैरती हुई सितार की झँकार किसी के मधुर स्वर के साथ बाग़ में फैलने लगी। कुछ ही क्षणों में कोठी और बाग़ संगीतमय हो उठे। लाला हरिकिशोर ने एक सर्द आह ली। यह काल्पनिक ख़तरा नहीं है, इससे तो उन्हें लोहा लेना ही होगा। वे चिन्तित और उदास हो फिर अपनी कुर्सी पर आ बैठे, आँखें मुँद गईं।

कोई एक घंटे के अनन्तर जब उन प्रेमियों की जोड़ी बाहर निकली तब लाला हरिकिशोर ज्यों के त्यों कुर्सी पर पड़े थे। पर पन्द्रह मिनिट के बाद जब रमेश प्रमीला को उसकी कोठी पर पहुँचा कर लौटा तब लाला जी कुर्सी छोड़ चुके थे और कोठी के बरामदे में टहल रहे थे।

"रमेश!" जब वह उनके पास से होकर अन्दर जाने लगा, वे उसे रोकते हुए बोले—"यह लड़की कौन थी?"

यद्यपि उन्होंने अपने स्वर में उदासीनता भरने का पूर्ण प्रयत्न किया था, तो भी हृदय की बेचैनी से प्रेरित एक हलकी-सी थिरकन उनके स्वर में घुस ही पड़ी थी। उस थिरकन ने रमेश को ज़रा विचलित परन्तु साथ ही सावधान भी कर दिया। उसने बेपरवाही से जवाब दिया—"वह हमारे साथ पढ़ती है।"

"तुम्हारे साथ? क्या लड़कियों के कालेज यहाँ नहीं हैं? वहाँ क्यों नहीं पढ़ती?"

"वहाँ की पढ़ाई ठीक नहीं है।"

"पढ़ाई ठीक नहीं?" लाला हरिकिशोर व्यंग्य से मुस्कराये—"तुम्हारे कालेज में और भी लड़कियाँ पढ़ती हैं क्या?"

"जी हाँ।"

"कितनी?"

"दस-बारह।"

"और लड़के?"

"कोई छः सौ के क़रीब।"

"छः सौ," "दस-बारह"। लाला जी चौंक उठे। उनके समय में तो लड़कियों के अलग स्कूल और कालेज होते थे, जिनके चारों ओर ऊँची दीवारें खिची रहती थीं। और आज एक दर्जन लड़कियाँ छः सौ लड़कों के साथ पढ़ रही हैं! बलिहारी है इस साहस की! देश के ऊपर पश्चिम का जादू कैसा छाता जा रहा है! सहशिक्षा को अपनाया भी तो कितने बेढंगे

ढंग से ? कौन कह सकता है हम किधर जा रहे हैं ? यह सब कुछ लाला हरिकिशोर एक साँस में सोच कर सहसा रुके। देश की उन्नति-अवनति के सोचने का वह समय न था। उन्हें तो असली स्थिति जानकर उस क्षण केवल आवश्यकता थी हाथों से निकलते जा रहे उस युवक, अपनी एकमात्र सन्तान को, सँभालने की। रमेश से फिर प्रश्न हुआ—"आज यह लड़की इधर कैसे आ निकली ?"

"मेरा सितार देखने आई थी।" रमेश का चेहरा लाल हो रहा था।

"तुम भी तो उसके यहाँ प्रायः जाते रहते हो ?"

"हाँ !" रमेश पूरी तरह खीझ उठा। पिता के अधिकारों की भी आखिर कोई हद होती है। उसने जरा तुनककर कहा—"पर आप यह सब प्रश्न क्यों पूछ रहे हैं ?"

पुत्र को बिगड़ते हुए देखकर पिता ने मुस्करा दिया। उस समय वे बात बढ़ाना नहीं चाहते थे। कोमल स्वर में बोले—"बूढ़ों की उत्सुकता कभी कभी शिष्टता की सीमा भी पार कर जाती है।" यह कह कर वे खिल-खिला कर हँस पड़े। रमेश की पीठ को प्रेम से थपथपाया और उसे वस्मित-सा छोड़कर वहाँ से हट गये और फिर अपनी कुर्सी पर जा बैठे।

(२)

कैसे ? यह गुत्थी कैसे सुलझेगी ? यौवन के उमड़ते हुए इस उद्दण्ड वेग को कैसे रोकना होगा ? ये प्रश्न बार बार लाला हरिकिशोर के मन में पिछले कई घंटों से उठ रहे थे। उनके सोनेवाले बड़े कमरे के एक कोने में उनकी चारपाई बिछी हुई थी; जिस पर पड़े पड़े वे बेचैनी की करवटें ले रहे थे। बाहर आकाश में काले बादल छाये हुए थे, जो उस अँधेरी रात को और भी अँधेरी बना रहे थे। उन बादलों का गर्जन तथा उनसे टूट कर पूरे जोर से बरसते हुए जलकण वातावरण को कोलाहलमय कर रहे थे। कभी कभी चमकती हुई बिजली की थिरकती हुई ज्योति उनके कमरे में प्रवेश कर उनको छूती हुई

लौट जाती थी। इससे उनकी उद्विग्नता और भी बढ़ रही थी। इतने में सामने दीवार पर लगी घड़ी ने टन टन करके बारह बजा दिये। इसी उधेड़-बुन में तीन घंटे बीत गये। वे नौ बजे चारपाई पर लेटे थे, खीझ-कर चारपाई पर उठ बैठे। इस समस्या को हल करके ही अब चारपाई पर लेटेंगे, यह उन्होंने निश्चय किया। और वे कमरे में टहलने लगे। आखिर यह कोई नई समस्या तो थी नहीं। यह आदि-काल से ही मनुष्य के जीवन में उलझती और सुलझती चली आ रही थी। क्या उनके जीवन में यह आँधी कभी नहीं आई थी? आखिर वे भी तो कभी जवान थे। सहसा उनकी कल्पना उन्हें अतीत के उस खण्ड में ले उड़ी जब बचपन की केंचुल झाड़कर वे तीव्रता से यौवन के स्वप्निल संसार में घुसे थे। कितनी मस्ती थी, कितनी उमंग थी, कितना उछाह था, उस अद्भुत संसार में? बादलों के साथ उड़ने, नदी की लहरों पर नाचने, वृक्षों की चोटियों पर रंग-बिरंगे पक्षियों के साथ कलरव गाने और अप्सराओं की नैसर्गिक बस्ती को ढूँढ़ने के लिए मन कितना विकल रहता था? उस उन्माद में क्षितिज के छोर तक पहुँचना भी कितना सुगम प्रतीत होता था? पर उनकी यह अलबेली मस्ती कुछ ही दिन चली थी। उनके पिता ने एक दिन उन्हें फूलों को सूँघने और आहें भरते देख लिया। बस, इसके कुछ ही दिनों के बाद इस मायाजाल का पर्दा छिन्न-भिन्न करके उनके इर्द-गिर्द एक और ही, विवाह का, जाल बुन दिया, जिसने कुछ ही दिनों में उनकी सारी मस्ती को छूमन्तर कर दिया और वह पागलपन गृहस्थी के झँझटों में जा छिपा।

विवाह! रमेश का विवाह ही अब करना होगा। इस रोग का यही इलाज है। एक सप्ताह के बाद ही उन्होंने अपने निश्चय को व्यावहारिक रूप भी दे दिया। एक लड़की ठीक कर ली। लड़की यद्यपि स्थूलकाव्य और श्याम वर्ण थी, तथापि थी अमृतसर के कपड़े के सबसे बड़े व्यापारी पूर्ण-शाह की एक मात्र संतान। कहते हैं, आरम्भ में वह पाठशाला के पथ पर अवश्य चली थी, पर अक्षरों का संसार उसे बहुत दिनों तक आकर्षित न

कर सका। दो-चार 'अक्षरबोध' फाड़ने के अनन्तर वह ऊब उठी, उस संसार को लात मार दी और फिर भूलकर भी उधर का चिन्तन न किया।

अमृतसर से लौटते ही लाला हरिकिशोर सीधे स्वयं रमेश के कमरे में पहुँचे और उसके पासवाली कुर्सी पर बैठते हुए बोले—"तुमसे एक आवश्यक बात करने आया हूँ।"

पिता के इस आकस्मिक आक्रमण से रमेश पहले तो चौंक कर थोड़ा विस्मित हुआ, फिर सँभल कर बोला—"कीजिए आज्ञा।"।

"तुम अब बीसवें साल में पहुँच गये हो।" पिता ने पुत्र के चेहरे पर दृष्टि जमाये हुए कहा—"मैं समझता हूँ, अब तुम्हारा विवाह हो जाना चाहिए।"

"विवाह ?"

"हाँ। और मैंने एक लड़की भी पसन्द कर ली है।"

"लड़की पसन्द कर ली है!" रमेश चकित-सा पिता की ओर देखने लगा—"कौन है भला वह ?"

"अमृतसर के सब से बड़े रईस पूर्णशाह की एक-मात्र सन्तान।"

"भला वह पढ़ी-लिखी कितनी है ?" रमेश ने फिर प्रश्न किया। शायद वह उत्सुकतावश ही यह सब पूछता चला जा रहा था।

"पढ़ी-लिखी ?" लाला जी व्यंग्य से ओतप्रोत स्वर में बोले—"मैं गृहणी की तलाश में निकला था, मेम साहब की नहीं।"

रमेश कुछ देर सिर नीचा किये बैठा रहा, फिर निश्चयात्मक स्वर में बोला—"मैं तो वहाँ विवाह न कर सकूँगा।"

"क्यों ?" लाला जी का चेहरा तमतमा उठा।

"इसलिए कि मैं केवल गृहणी ही नहीं चाहता—"

"मेम साहब भी चाहते हो।" रमेश को वहीं रोक कर पिता ने उसका वाक्य समाप्त किया।

"हाँ मैं ये दोनों गुण चाहता हूँ।"

"तो ये दोनों गुण एक व्यक्ति में कभी नहीं मिलेंगे।"

"क्यों नहीं ?" रमेश कहने लगा—"मैं जानता हूँ—"

"हाँ, तुम जानते हो ? मुझे यह मत बताना कि उस दिनवाली छोकरी में ये दोनों गुण मौजूद हैं।" क्रोध और व्यंग्य से बुझे हुए स्वर में लाला हरिकिशोर ने रमेश के हृदय में उठनेवाले भाव को उसकी जिह्वा तक पहुँचने से पहले ही पकड़कर उसे लौटाते हुए जवाब दिया। फिर कुर्सी से उठ खड़े हुए और तेज़ी से कमरे से बाहर हो गये।

बात हुई और गई। पंथी यदि लाला हरिकिशोर होते तो शायद झगड़े का अब तक अन्त हो चुका होता। लगभग तीन मास बीत चुके थे, पर स्थिति ज्यों को त्यों थी। रमेश ने कुछ दिन बीतने पर दो-एक बार बिगड़ी हुई को बनाने का अवश्य यत्न किया, पर पिता के हृदय तक न पहुँच सका। पुत्र-द्वारा की हुई अपनी अवज्ञा का तो लाला हरिकिशोर को अधिक खेद न था, वे शायद अपनी पसन्द की हुई लड़की का हाथ से निकलना भी सहन कर लेते, पर उस लड़की के साथ बँधी हुई अतुल धन-राशि को हाथ में आने से पहले ही अपने लड़के-द्वारा वापस जाना उन्हें बहुत अखर गया। रमेश का यह अपराध अक्षम्य था। क्रोध के आवेश में लाला हरिकिशोर ने पुत्र से बात करने के दूसरे दिन ही पूर्णशाह को पत्र लिखकर स्वतंत्र कर दिया था। अब! अब रमेश के क्षमा माँगने से क्या हो सकता था ? ऐसी स्थिति में लाला हरिकिशोर घर के वातावरण से ऊब उठे। अभी अप्रेल का अन्त भी नहीं हुआ था, फिर भी उन्होंने पहाड़ जाने की तैयारी कर दी। एक दिन पुत्र के देखते देखते वे मोटर पर अपना सामान बँधवाकर शिमला को चल दिये।

(३)

"प्रमीला तू टोस्ट न लेगी क्या ?" उसकी माँ ने पूछा।

"नहीं जी।" प्रमीला ने सिर हिला दिया।

उसके बड़े भाई निर्मल ने जो लॉ कालेज में पढ़ता था, शायद छठा टोस्ट उठाते हुए प्रमीला की ओर देखा और मुस्कराकर कर बोला—"बीबी जी, आप भी तो गज़ब ढाती हैं। आज-कल की लड़कियों के लिए खाना मना है। फ़ैशन मनुष्य से क्या नहीं करवाता ?"

प्रमीला का लंबा पतला शरीर चंचलता से नाच उठा। हँसते हुए नेत्रों से अपने बड़े भाई का निरीक्षण करती हुई चाय की प्याली हाथ में उठा कर बोली—"भैया, आपकी तोंद भला किस शास्त्रानुसार बढ़ रही है ? बटन बेचारे भी तंग आकर टूटने जा रहे हैं। कुछ उन पर ही दया करो।"

उनकी माँ खिलखिलाकर हँस दी। छोटे भाई मदन ने जो अभी अभी कालेज में दाखिल हुआ था, बहन का साथ दिया—"बात तो ठीक है। मैं पिछले दस मिनट से एक टोस्ट के लिए तरस रहा हूँ। टोस्ट आते ही दबोच लेते हैं। बिस्किट पहले ही उड़ा चुके हैं।"

"नन्हें, खाना भी एक कला है।" हाथवाला टोस्ट खत्म करते हुए निर्मल ने जवाब दिया—"मैं लिखे देता हूँ कि तुम संसार में सदा तरसते ही रहोगे।"

उसने अभी यह वाक्य समाप्त भी न किया था कि उनकी कोठी की छत पर एक ज़ोर का धड़ाका हुआ, मानो किसी ने मनों भारी पत्थर फेंक दिया हो। इसमें सन्देह नहीं, उनकी कोठी एक पगडंडी के ठीक नीचे होने के कारण कभी-कभी छोटे-छोटे पत्थर उनकी टीन की छत पर काफ़ी शोर करते हुए आ पड़ते थे। पर इतना भारी शब्द तो आज तक कभी नहीं हुआ था। सब के सब बेतरह चौंक उठे। प्रमीला के हाथ की चाय की प्याली छूट कर फ़र्श पर जा गिरी और टुकड़े टुकड़े हो गई। उसकी माँ चाय में चीनी डाल रही थी। चीनी उड़कर पवन में मिल गई और चम्मच सामने दीवार पर जा टकराया। मदन खाली हाथ था और निर्मल टोस्ट खा रहा था। उसने टोस्ट को झटपट मुँह में डाला और दोनों भाई लपककर

बाहर की ओर दौड़े। उनके बाहर पहुँचते ही एक लुढ़कता हुआ मनुष्य-शरीर उनके पाँवों में आ गिरा।

"अरे! यह तो कोई बेचारे राह जाते गिर गये।" निर्मल ने झुक कर उस निर्जीव-सी मानवीय मूर्ति को उठा लिया। उसने कहा—"किसी पत्थर पर से पाँव फिसल गया होगा।"

"क्या है? कौन है भैया?" दौड़कर आती हुई प्रमीला ने पूछा।

"देख लो।"

प्रमीला ने आधे क्षण के लिए उस क्षत-विक्षत मनुष्य के मुख की ओर देखा और चिल्लाई—"अरे ये तो रमेश के पिता हैं!"

"रमेश के पिता? वह रमेश जो हमारे यहाँ आया करता था।"

"हाँ भैया, देखो इन्हें अधिक चोट तो नहीं आई है। क्या बिलकुल बेसुध हैं? आह! रुधिर भी बह रहा है। इन्हें अन्दर चारपाई पर लिटा दो। सदन तुम दौड़ो, किसी डाक्टर को फ़ौरन बुला लाओ।" प्रमीला यह सब एक साँस में कह गई। फिर अपने बड़े भाई को कोट से खींचकर सोनेवाले कमरे की ओर ले दौड़ी। उनकी माँ ने सब से पहले पहुँचकर बिस्तर ठीक कर दिया था। निर्मल ने ले जाकर लाला हरिकिशोर को चारपाई पर लिटा दिया। उनका कोट और जूता उतारकर एक ओर रख दिया।

इतने में प्रमीला जाकर एक प्याली चाय बना लाई और लाला जी का मुँह खोल कर एक-दो चम्मच उनके मुँह में डाली, पर वे ज़रा भी न हिले-डुले।

थोड़ी ही देर के अनन्तर जब सदन डाक्टर को लेकर लौटा तब भी वे ज्यों के त्यों बेसुध पड़े थे। डाक्टर ने आते ही उन्हें ठोक-पीटकर देखना आरम्भ कर दिया। घर के सारे लोग उद्विग्न-से खड़े उनके निर्णय की प्रतीक्षा करने लगे। कोई पाँच मिनिट के बाद डाक्टर ने अपनी परीक्षा समाप्त कर दी।

"क्यों साहब ?" प्रमीला ने चिन्ता भरे स्वर में पूछा।

"बाहर तो मामूली एक-दो चोटें हैं, पर मुझे भय है कि ब्रेन में ज़बर्दस्त कंजेस्चन हो गया है। इसी के कारण ये बेसुध हैं।"

"कब तक होश में आयेंगे ?" निर्मल ने पूछा।

"ईश्वर चाहें तो अभी घंटे दो घंटे में होश में आ सकते हैं। पर शायद कल-परसों तक इसी तरह पड़े रहें। केस 'सीरियस' है"।

"'होपलेस' तो नहीं ?" प्रमीला ने भरे हुए गले से पूछा। उसकी आँखों में आँसू छलक रहे थे।

"कह नहीं सकता।" डाक्टर ने जवाब दिया और जेब से कलम और काग़ज़ निकाल कर नुसखा लिखने लगे।

"यह लीजिए।" नुसखा निर्मल के हाथ में देते हुए वे बोले—"यह दवाई दो दो घंटे के बाद दिये जाइए। इन्हें बिलकुल एकान्त में रखिए। एक से अधिक व्यक्ति कभी इनके पास नहीं रहना चाहिए। कमरे के सब पर्दे गिरा दीजिए। शीशों और झरोखों को ढँककर कमरे को अँधेरा कर दीजिए। इनका जीवन सेवा-शुश्रूषा और सावधानी पर निर्भर है। ज़रा-सी बेपरवाही भी अनर्थ ढा सकती है। प्रमीला और उसकी माता की ओर देखकर डाक्टर ने कहा—"या तो आप में से कोई इनकी सेवा का भार उठा लें, अन्यथा कोई नर्स ठीक कर लीजिए।"

"नर्स की कोई ज़रूरत नहीं है। मैं यह काम करूँगी।" प्रमीला फ़ौरन बोली।

"बहुत अच्छा, परन्तु बहुत सतर्क और सावधान रहना। दवा देने के अतिरिक्त इनसे ज़रा भी छेड़-छाड़ न करना। इन्हें स्वयं होश में आने दीजिएगा।" डाक्टर ने अन्तिम आदेश दिया और प्रमीला को छोड़ बाक़ी सब को साथ लिए कमरे से बाहर हो गये।

(४)

उनकी कोठी के पीछे भी एक छोटा-सा लॉन था। उसी पर एक

आरामकुर्सी डाले प्रमीला बैठी थी। घर वालों के बहुत आग्रह करने पर आज तीसरे दिन वह डेढ़ घंटे के लिए रोगी के कमरे से बाहर निकली थी।

रास्ते के चीड़ के वृक्षों और उनसे टकराते हुए श्याम और श्वेत भाफ के टुकड़ों पर से फिसलती हुई उसकी दृष्टि सुदूर उस पर्वत-श्रेणी के अन्तिम छोर पर लगी थी। सूर्यास्त का समय था। हिम से ढँके हुए पर्वत रक्त-रंजित हो रहे थे। उनके ठीक ऊपर रंग-बिरंगे मेघ विविध प्रकार की भीमकाय मूर्तियाँ बनाते हुए एक-दूसरे का आलिंगन कर रहे थे, और कभी कभी पता नहीं कहाँ से आकर कोई कोई पक्षी एक श्याम बिन्दु के समान उन मेघों के पास से तैरता हुआ निकल जाता था। कितना आकर्षक, कितना नैसर्गिक था वह दृश्य? और प्रमीला उसमें इतना तल्लीन थी कि उसने इस संसार की सुध-बुध खो दी। उन्हीं मेघों और उन्हीं पर्वतों के मध्य में किसी को साथ ले कर खेलने के लिए वह विकल हो उठी। पर क्या यह सम्भव था? क्या वह वहाँ तक पहुँच सकेगी? क्या वह उसका साथ देने को भी तैयार होगा? क्षण पर क्षण बीतने लगे, सूर्यास्त की लाली भी कई स्थलों से छूटने लगी, पर प्रमीला अपने स्वप्नों की उधेड़-बुन में ज्यों की त्यों लगी थी।

सहसा पास के कमरे से किसी के कराहने का हलका-सा शब्द हुआ। स्वप्नों की सृष्टि छिन्न-भिन्न हो गई। वह चौंककर उठ बैठी। जीवन और मृत्यु की संधि में पड़े हुए अपने अद्भुत अतिथि के कमरे की ओर एक, दो क़दम बढ़ाये और फिर रुक गई। वह बाहर कम से कम डेढ़ घंटा बैठने आई थी और अभी कठिनता से आध घंटा ही गुज़रा था। उसका बड़ा भैया जो रोगी के प्रति उसके स्थान की पूर्ति कर रहा था, उसे अन्दर झाँकने तक न देगा। वह फिर आकर अपनी कुर्सी पर बैठ गई। पर वह लाला हरिकिशोर के लिए इतनी चिन्तित क्यों हो रही है? वह सोचने लगी। क्या मानवीय कर्तव्य, सहानुभूति अथवा सेवाभाव से प्रेरित होकर? नहीं। उसने स्वयं ही हँस दिया। इसका कारण कुछ और है। प्रेम, हाँ प्रेम। परन्तु,

वह रमेश को इतना प्यार करती है, यह उसे पता न था। वह उठकर टहलने लगी और सोचने लगी।

"प्रमीला," उसकी माता जो उसकी ओर बढ़ती आ रही थी कहने लगी—"आज कैसे रहे हैं ?"

"वैसे ही समझिए।" प्रमीला ने जवाब दिया—"अभी तक बेसुध ही हैं। हाँ, कुछ कुछ हिलने-डुलने अवश्य लगे हैं और पीड़ा से कराहने भी।"

"बात लम्बी पड़ रही है। मैं समझती हूँ, अब हमें कोई नर्स अवश्य ठीक कर लेनी चाहिए। तुमसे यह काम होने का नहीं।"

"अभी नहीं" प्रमीला दृढ़ता से बोली—"जब तक रमेश नहीं आयेगा, मैं ही उनकी सेवा में रहूँगी।"

"पर रमेश के आने का कुछ पता भी तो हो ?"

"पता क्यों नहीं ? तार तो उसे मिल ही चुका होगा। बस, अब आता ही होगा। पर उसे अब तक आ जाना चाहिए था।"

"हाँ, इसी लिए तो कहती हूँ।"

ठीक उसी समय प्रमीला के पिता जो अभी दफ्तर से लौटे थे, पत्नी को ढूँढ़ते हुए वहाँ आ निकले।

"क्यों जी, रमेश की कुछ खबर मिली ?" प्रमीला ने ज़रा उत्सुकता से पूछा।

"हाँ, आज उसके नौकर का पत्र आया है। रमेश तो कलकत्ता गया हुआ है।"

"कलकत्ता ?"

"हाँ, और अपना कलकत्ता का पता भी नहीं बता गया है। उसके नौकर ने एकआध जगह, जहाँ उसके ठहरने की सम्भावना है, तार तो दे दिया है। पर क्या पता, वह कहाँ ठहरा है ?"

"अब बताओ।" प्रमीला की माता बोली—"अब तो नर्स ठीक कर

लेनी चाहिए।"

"नहीं दो-चार दिन और ठहर जाइए।" प्रमीला ने फिर बाधा देते हुए दृढ़ता से कहा। सच बात तो यह थी कि वह निश्चय कर चुकी थी कि रमेश के आने पर भी वह इस काम से विमुख न होगी। उसकी हार्दिक इच्छा थी कि लाला हरिकिशोर उसके सामने ही होश सँभालें। शायद उस गृहिणी और मेम साहबवाले झगड़े की उड़ती-सी खबर उसे थी और वह उस पुरातन पुरुष को दिखाना चाहती थी कि रमेश ने यों ही डींग नहीं हाँकी थी। उसमें वे दोनों गुण थे; जिनका एक ही व्यक्ति में होना लाला जी ने असम्भव कहा था।

वह दिन भी बीता और उससे अगला भी, पर रमेश न आया। हाँ, लाला हरिकिशोर होश में आ चुके थे। डाक्टर ने उन्हें बोलने की आज्ञा नहीं दी थी, इसलिए न वे कुछ पूछ सकते थे और न अपने भावों को जिह्वा-द्वारा प्रदर्शित कर सकते थे। पर उन्हें यह जानने में ज़रा भी देर न लगी कि मृत्यु की पटरी पर से फ़िसलते हुए उन्हें खींचकर इधर लाने का श्रेय उस हँसते हुए होंठोंवाली पतली-सी लड़की को है जो उनके इर्द-गिर्द एक सुनहरी किरण की भाँति थिरकती-सी उनकी सेवा में लगी थी। उस लड़की के प्रति उनके हृदय में जो कृतज्ञता का स्रोत बह रहा था उसकी झलक उसके नेत्रों में इतनी सजीव थी कि उसे उस लड़की के हृदय तक पहुँचाने के लिए एक भी शब्द की सहायता की ज़रूरत न थी। कम से कम प्रमीला ने एक क्षण में ही उनके हृदय के भावों को पढ़ लिया। पर क्या वे उसे पहचानते हैं? उसने ग़ौर से उनके नेत्रों की ओर देखा नहीं। पहचान भी कैसे सकते थे? एक बार देखे हुए व्यक्ति को कितने आदमी पहचान सकते हैं? प्रमीला का यह अनुमान बिलकुल ठीक न था। यद्यपि वे उसे पहचान न सके थे, पर उन्हें निश्चय था कि उस लड़की को उन्होंने देखा अवश्य है, पर कह नहीं सकते थे कहाँ? एकआध बार उन्हें यह भी विचार आया कि इस लड़की का रूप-रङ्ग रमेश के साथ एक बार देखी हुई उस लड़की से

मिलता जुलता है । पर यह विचार अधिक देर तक उनके मस्तिष्क में जम न सका । भला यह भी कभी सम्भव हो सकता है, उन्होंने सोचा । इसी भाँति दो दिन और बीत गये । उस दिन उन्हें बातें करने की खुली छुट्टी मिल गई थी । उन्होंने प्रमीला पर प्रश्नों की बौछार कर दी । एक प्रश्न के उत्तर में जब उन्हें पता लगा कि प्रमीला के माता-पिता भी लाहौर के ही रहनेवाले हैं तब उन्होंने अपना सन्देह उसके सम्मुख रख ही दिया—"तुम्हारा चेहरा मुझे परिचित-सा जान पड़ता है ।" तब ये उसे कुछ कुछ पहचानते हैं, यह सोचकर वह थोड़ी विस्मित पर साथ ही प्रसन्न भी हुई । पर उन्हें चिढ़ाते हुए मुस्कराकर बोली—"होगा । मुझे भी ऐसा प्रतीत होता है जैसे आपको कहीं देखा है ।"

"पर कहाँ ?"

"मैंने देखा है आपको नहर की पटरी पर घूमते हुए, नीली मोटर पर सैर करते हुए । और आपने देखा है मुझे एक बार रमेश के साथ अपनी कोठी के अन्दर जाते हुए और लौटते हुए ।"

"तुम ? सचमुच ?"

"जी हाँ, मैं ।"

लाला हरिकिशोर के आश्चर्य का ठिकाना न था । कई दिनों से लगातार रोज़ जिसे देखते आ रहे थे उसे ही ऐसा आँखें फाड़ कर देखने लगे, मानो अभी आकाश से उतर रही हो । कुछ क्षण तो उनके चेहरे पर विस्मय का ही आधिपत्य रहा, फिर अपनी पुरानी बात को याद कर वहाँ लज्जा की रेखायें खिंच गईं । क्षमा से ओतप्रोत स्वर में कहने लगे—"परन्तु मैंने तुम्हारे साथ बहुत अन्याय—"

"छोड़िए पिछली बातों को ।" प्रमीला उन्हें बीच में ही रोक कर बोली—"आपको अभी शान्त ही रहना चाहिए । कुछ दिनों के बाद ये सब बातें देखी जायँगी ।"

कुछ दिन और बीत गये, पर इस विषय पर फिर बात न चली । हाँ,

रमेश के विषय में सब बहुत चिन्तित थे। वह अभी तक नहीं आया था। अब तक लाला हरिकिशोर कुछ चलने-फिरने लायक हो गये थे। इसलिए प्रमीला के माता-पिता को और अधिक कष्ट देना उन्होंने उचित न समझा। एक दिन सबके लाख रोकने पर भी वे अपने मकान पर चले गये?

५

उस दिन लाला जी को अपने मकान में आये दूसरा दिन था। दोपहर का समय था, सुबह से बरसता आ रहा मेंह सहसा बन्द हो गया। बादल एक दूसरे से बिछुड़कर इधर-उधर भटकने लगे, मानो कहीं भागने की राह टटोल रहे हों। देखते ही देखते सूर्य को आकाश का आधिपत्य सौंपकर वे अदृश्य हो गये। लाला हरिकिशोर जो प्रातः से कमरे के अन्दर बैठे बैठे ऊब चुके थे, मेंह के थमते ही बाहर निकल आये। उनकी कोठी के पीछे एक छोटी-सी फुलवारी थी। उसी के मध्य में एक आरामकुर्सी डलवाकर वे उस पुष्पों के संसार में जा बैठे। हलकी हलकी हवा के झोंकों से इन्द्र धनुष-सी झूमती हुई वह पुष्पराशि और फूल फूल पर मोतियों की भाँति चमकते हुए जल-कण एक क्षण में उनके हृदय पर प्रभुत्व पा गये। उन एक-दूसरे का आलिंगन करते हुए पुष्पों से निकलती हुई मधुमय महक उनके चारों ओर एक सुखद स्वप्न की भाँति फैल रही थी। उनके मस्तिष्क में घुसकर उसने एक अद्भुत-सी हलचल छेड़ दी। वर्षों की बीती हुई घड़ियाँ, जब उनके जीवन में भी आलिंगन था, प्रेम था, याद आने लगीं। क्या वे दिन भी कभी लौट सकते थे? वे अपने पके हुए बालों-वाले सिर पर हाथ फेरते हुए मुस्कुराये। नहीं, उनका युग बीत चुका है, यह रमेश और प्रमीला का युग है। रमेश! पता नहीं, वह कहाँ है। अभी तक आया क्यों नहीं? उन्हें पुष्पों का संसार भूल गया और अपने एकलौते लाल की याद में वे फिर चिन्तित हो गये।

कोई लगभग एक घंटा वे ऐसे ही बैठे रहे। सहसा उन पर एक

मनुष्य की छाया पड़ी। सिर उठाकर देखा। सामने प्रणाम करता हुआ रमेश खड़ा था। प्रसन्नता से उछल कर उठ बैठे, "रमेश।" उत्तेजित स्वर में बोले—"बेटा तुम कहाँ थे ?"

"आप बैठिए।" रमेश पिता को कंधों से पकड़कर कोमलता से बिठाते हुए जवाब देने लगा—"अभी कलकत्ता से लौट रहा हूँ। जाती बार रास्ता में लखनऊ ठहर गया था। इसलिए सूचना न मिल सकी। परसों कलकत्ता पहुँचा था और पहुँचते ही वापस चल दिया। अब तो आप ठीक हैं न ?"

"हाँ, आगे से तो बहुत अच्छा हूँ।" पिता ने गद्गद स्वर में कहा।

"मुझे खेद है, मैं आपकी सेवा न कर सका।"

"पर मैं सेवा से वंचित तो नहीं रहा।" लाला जी ने जवाब दिया—"बेटा यद्यपि नहीं था, मेरी बेटी तो थी ?"

"बेटी ?" रमेश ने आश्चर्य से पिता की ओर देखा।

"हाँ बेटी। यदि वह बनना स्वीकार कर ले और तुम पहले की भाँति बखेड़ा न खड़ा कर दो तो सचमुच मेरी बेटी बन जायगी।"

"मैं बखेड़ा न खड़ा करूं!" रमेश ने तिलमिला कर पिता की ओर देखा—"तो क्या आपने फिर कोई लड़की ठीक की है ?"

"हाँ।" पिता ने गम्भीर मुद्रा धारण करते हुए कहा—"और देखना यदि वह मान जाय तो अब के तुम इनकार न करना। मुझे तुम जो जीता देख रहे हो यह केवल उस लड़की के कारण। उसने मेरी इतनी सेवा की है कि भुलाये नहीं भूल सकता।"

"परन्तु"—रमेश असमंजस में पड़ गया। उसकी समझ में ही नहीं आता था कि क्या करे। स्वीकार करते बनता न था और हृदय से पुकार उठने पर भी इनकार करने का साहस न होता था। इस परिस्थिति में इनकार करना अपने पिता के प्रति अत्याचार ही नहीं, शायद एक अक्षम्य अपराध भी होता। उसके पिता को इससे कितना दुःख होगा, कितनी

मानसिक पीड़ा होगी, यह वह भली भाँति समझता था। क्या अपने सुख के लिए वह अपने पिता को इतना दुःख दे सकेगा? उससे यह स्वार्थ की राह क्या पकड़ी जा सकेगी? परन्तु एक बिनदेखी, बिनजाँची हुई लड़की से विवाह करना वह स्वीकार भी कैसे कर ले? उसका रोम रोम इस विचार के प्रति विद्रोह कर उठा। परन्तु उसने कुछ भी कहना उचित न समझा।

पिता अपने पुत्र के चेहरे पर का भाव-परिवर्तन देखकर मन ही मन हँस रहे थे। वे मुस्कुराकर बोले—"अच्छा अब तो तुम मुँह-हाथ धोकर कुछ जलपान करो। यह सब कुछ फिर देखा जायगा।"

इतना सस्ता छुटकारा पाकर रमेश ने सन्तोष की साँस ली और उसी समय वहाँ से खिसक गया।

रमेश जब खा-पीकर लौटा तब लाला जी के पास वाली कुर्सी पर नीले रंग की साड़ी पहने एक महिला बैठी थी। रमेश पहले तो थोड़ा झिझका, फिर आगे बढ़ गया। उसे देखकर प्रमीला मुस्कुराती हुई उठ खड़ी हुई और हाथ जोड़कर उसे नमस्कार किया।

"प्रमीला!" रमेश ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा और पूछा—"तुम किधर से आ निकलीं?"

"मैंने नौकर-द्वारा बुला भेजा था," हँसकर लाला जी कहने लगे—"ताकि तुम मेरी बेटी से परिचय प्राप्त कर लो।"

"अच्छा यह है आपकी बेटी!" रमेश एक क्षण में ही सब कुछ समझ गया।

"हाँ।"

रमेश का चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा। उसने कहा—"तो अबके मुझे आपका प्रस्ताव स्वीकार है।" उसने अर्थभरी दृष्टि से प्रमीला की ओर देखा। आँखें चार होते ही दोनों मुस्कुरा दिये।

———

तुच्छ भेंट !

उस दिन कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। आकाश में चारों ओर कुहरा छाया हुआ था। क्लब का बड़ा हाल जगमगाती ज्योति का ऊजड़ स्थल-सा बन रहा था। हाँ, दहकती हुई अँगीठी के निकट बैठे हुए चार व्यक्ति—दो स्त्रियाँ और दो पुरुष—ब्रिज खेलने में निमग्न थे। उनके निकट ही एक युवक बैठा स्वप्निल नेत्रों से आग की पीली-नीली लपटों का निरीक्षण कर रहा था। सिर के बाल बिखर रहे थे। नेकटाई की गाँठ ढीली होकर ज़रा नीचे को खिसक गई थी। भूरे कोट का कालर ऊपर को उठा हुआ था। वह काफ़ी देर तक यों ही बैठा रहा। फिर एक सेकेण्ड के लिए उसने हँसते-झगड़ते खिलाड़ियों को देखा, जो उससे बेखबर सस्ते दामों में उत्तेजना का रसास्वादन कर रहे थे। इतने में बाहर मोटर के आने का शब्द हुआ। खिलाड़ी भी चौंके और वह युवक भी, और सबके नेत्र द्वार पर जा लगे।

बढ़िया फ़र-कोट पहने, जिसमें से कहीं-कहीं उसकी भड़कीली चाकलेट-रंगकी सुनहरे किनारेवाली साड़ी के कुछ भाग झाँक रहे थे, रजनी ने प्रवेश किया। उसके लाल-लाल होंठ मुसकरा रहे थे; किन्तु उसके बड़े-बड़े नेत्रों में चिन्ता की पड़ी हुई रेखा छिपाए भी न छिप रही थी। उसके साथ था नगर का सुप्रसिद्ध करोड़पति प्रभुसहाय। मोटे ओवरकोट और हैनोल की स्याही द्वारा अपने भीतर उष्णता और बाहर यौवन लाने का वह विफल प्रयत्न कर रहा था। चेहरे की झुर्रियाँ और नेत्रों के नीचे छाई हुई स्याही उसके यथार्थ पचास-वर्षीय रूप का ढिंढोरा पीट रही थीं।

रजनी ने उड़ती हुई दृष्टि से सबकी ओर देखा और मुसकराकर सब ने एक-दूसरे का अभिवादन किया।

'गिरीश तुम ?'—रजनी की दृष्टि एकाएक उस युवक पर जा अटकी—'तुम यहाँ कब से बैठे हो ?'

'अभी आया हूँ।'—उसने ज्यों के त्यों बैठे-बैठे ही जवाब दिया।

'चाय पियोगी या कुछ और ?'—गिरीश का वाक्य समाप्त होते ही प्रभुसहाय ने रजनी से पूछा।

'बस सिर्फ़ चाय, और कुछ नहीं।'

प्रभुसहाय रजनी को साथ लिए हाल के मध्य में बढ़ गया। दोनों एक मेज़ के आमने-सामने कुर्सियों पर बैठ गए, और बैरा को बुलाकर प्रभुसहाय ने चाय का आर्डर दे दिया। बैरा पाँच ही मिनट में चाय ले आया। रजनी ने बड़े ढंग से चाय के दो प्याले बनाए। एक प्रभुसहाय की ओर बढ़ा दिया और दूसरा स्वयं ले लिया। वे एक-एक घूँट करके चाय पीने लगे। प्यालों से निकलते धुएँ के झीने आवरण को चीरते हुए उनके नेत्र आपस में उलझने लगे। प्याला समाप्त करके रजनी उठ खड़ी हुई।

'बस, एक ही प्याला ?'—प्रभुसहाय ने पूछा।

'हाँ, चलो, अब चलें।'

'चलो।'

रजनी ने एक बार अँगीठी की ओर मुँह किए मूर्ति की भाँति बैठे हुए गिरीश की ओर देखा। फिर प्रभुसहाय का हाथ पकड़कर उसे लगभग खींचती हुई तेज़ी से दरवाज़े की ओर बढ़ गई।

गिरीश कुछ देर तो ऐसे बैठा रहा, मानो कुछ हुआ ही नहीं। फिर अपने बालों को ठीक करता हुआ वह भी उठ खड़ा हुआ, और रजनी का अनुसरण किया।

'अफ़सरी पर आज लक्ष्मी विजय प्राप्त कर गई मालूम देती है।'—एक खिलाड़ी ने कहा। बाक़ी के तीन व्यक्ति ज़रा-सा मुसकराए और सबके सब फिर खेल में डूब गए।

२

जब गिरीश बाहर निकला, तो रजनी और प्रभुसहाय मोटर में बैठ चुके थे। उसके देखते ही देखते झटका देकर मोटर चल दी। क्लब की इमारत के सामने एक सड़क बहुत दूर तक चली गई थी। उसी को चीरती

हुई मोटर भागने लगी। यहाँ तक कि कुछ ही काल में केवल उसका पिछला लैम्प लाल ज्योति के एक बिन्दु का रूप धारण करके सड़कपर उड़ता हुआ-सा दीखने लगा। गिरीश की दृष्टि एकटक उस बिन्दु पर जमी रही। जब वह आँखों से ओझल हो गया, तो उस ने एक दीर्घ निश्वास लिया। कुछ ही दूरीपर एक बेंच पड़ी थी। वह उसकी ओर बढ़ गया। यद्यपि वह कुछ-कुछ गीली थी; किन्तु गिरीश उसपर लापरवाही से बैठ गया।

गिरीश का मस्तिष्क आज उसे बरबस अतीत की कुछ स्मृतियों की याद दिलाने लगा। पिछले चार वर्षों का जीवन कुछ धुँधले, कुछ प्रकाशमय चित्रों के रूप में उसके नेत्रों के सामने झलक गया। उसे वह दिन याद आया, जब एम० ए० की परीक्षा में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करने के अनन्तर वह अपने प्रिन्सिपल से मिलने गया था। जब वह तेज़ी से उनके कमरे में घुसा, तो प्रिन्सिपल की कुर्सी खाली पड़ी थी। हाँ, उनकी बड़ी मेज के एक कोने के पास एक लड़की सिकुड़ी-सी कुर्सी पर बैठी बिजली के पंखे की हवा से फड़फड़ाता अपना सफ़ेद साड़ी का छोर सँभालने में व्यस्त थी। गिरीश उसे देखकर आधे क्षण ठिठका, फिर साहस करके आगे बढ़ा। 'प्रिन्सिपल साहब कहाँ हैं?'—उसने पूछा।

लड़की ने चकित भोलेभाले नेत्रों से नवागन्तुक की ओर देखा। उसके पूर्ण रूप से विकसित लाल होंठ ज़रा-से थिरके; किन्तु वह कुछ बोल नहीं सकी। वह साड़ी का छोर थामे हुए थी, उसे ही थामे रही।

'आप नहीं जानतीं?'—गिरीश फिर बोला।

लड़की ने सिर हिला दिया। गिरीश कुछ देर ज्यों-का-त्यों खड़ा रहा। फिर लड़की से मुँह मोड़कर कमरे में दो-एक क़दम चला और इसके बाद लड़की के पासवाली कुर्सी पर आ बैठा।

'आप शायद कालेज में दाखिल होने आई हैं?'—गिरीश ने फिर प्रश्न किया।

'हाँ।'—अब की बार लड़की की जबान खुल पड़ी—'और आप?'

'मैं कालेज को अन्तिम नमस्कार करने आया हूँ। इस वर्ष एम० ए० किया है।'

'एम० ए० ? किस विषय में ?

'अंगरेज़ी-साहित्य में। सर्वप्रथम आया हूँ।'

'अच्छा !'—लड़की की वाणी में एक छिपा हुआ, किन्तु पैनी कटार-सा तीखा व्यंग्य था, जो गिरीश के अन्तस्तल को चीरता हुआ चला गया। उसका अभिमान-प्रदर्शन यह कल की छोकरी इस चतुरता से पकड़ लेगी, उसे यह आशा न थी। उसके कान लज्जा से लाल हो उठे।

ठीक उसी समय कमरे में प्रिन्सिपल ने प्रवेश किया। गिरीश को देखकर प्रसन्नता दिखाते हुए बोले—'हलो गिरीश, कब आए ?'

'आज ही आया हूँ।'—गिरीश ने हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए कहा।

'खूब नम्बर लिए हैं तुमने; किन्तु मुझे इस बात का पछतावा रहा कि तुम पिछले रिकार्ड को नहीं तोड़ सके।'

'उस रिकार्ड को कौन छू सकता है ? रायसाहब अरुणदेव असाधारण प्रतिभा के धनी थे।'

'निस्सन्देह ! फिर लड़की पर एक नजर डालकर बोले—'हाँ, तुम लोगों का परिचय तो करा दूँ।' लड़की की ओर देखते हुए प्रिन्सिपल महोदय बोले—'यह हैं मिस रजनी, उन्हीं मेरे सर्वश्रेष्ठ छात्र अरुणदेव की इकलौती सन्तान और यह हैं गिरीश-मोहन। इन्होंने भी लगभग वैसी ही प्रतिभा का परिचय दिया है।'

'जानती हूँ।'—रजनी गिरीश के नमस्कार के प्रत्युत्तर में हाथ जोड़ती हुई बोली—'इन्होंने इस वर्ष अंगरेज़ी-साहित्य की एम० ए० परीक्षा में सर्व प्रथम स्थान प्राप्त किया है।'

'तुम कैसे जानती हो ?'—प्रिन्सिपल ने ज़रा आश्चर्य से पूछा।

गिरीश के पाँव के तले से जैसे ज़मीन निकल गई हो। अब उसे

प्रिन्सिपल के सामने भी लज्जित होना पड़ेगा! वह उस घड़ी को कोसने लगा; जब इस कल की छोकरी के सामने वह शेखी बघार बैठा था। वह सिर नीचा करके चुपके से बैठ गया। रजनी ने एक बार उसे देखा। उसके होंठों पर मुसकान की एक छाया आधे सेकेण्ड के लिए खेली और फिर अदृश्य हो गई। वह गम्भीरता से बोली—'मैंने पत्र में देखा था। अंगरेज़ी-साहित्य से मुझे बहुत मोह है।'

यह सुनकर गिरीश एकाएक चैतन्य हो उठा और कृतज्ञताभरी दृष्टि से रजनी की ओर देखने लगा। यही था उनकी मित्रता का सूत्रपात। इसके अनन्तर रजनी और वह शनैः-शनैः एक-दूसरे के निकटतर आते गए। यहाँ तक कि उनके हृदयों की धड़कन एक-दूसरे में समा गई। यह सब कुछ रह रहकर गिरीश वहाँ बैठा हुआ सोचने लगा।

फिर एक दिन उसने सुना कि वह आई० सी० एस० की परीक्षा में पास हो गया। बस; फिर क्या था। उसके इर्द-गिर्द लड़कियों के पिता धनाधिपतियों ने स्वर्ण का मायावी जाल बिछाना शुरू किया, जिससे लाख सँभलने पर भी वह सँभल न सका और एक दिन उसमें जा ही फँसा। यह सब सोचते-सोचते असहनीय सर्दी में भी उसके मस्तक पर स्वेद-बिन्दु चमक उठे। वह उठकर बेचैनी से टहलने लगा। इतने में ब्रिज-खिलाड़ियों की टोली हा-हा ही-ही करती हुई क्लब से बाहर निकली। उन्हें देख वह तेज़ी से भागकर सामने वृक्षों के बने झुरमुट में घुस गया।

२

उस रात आधे शहर की सड़कों को मोटर द्वारा काटकर, प्रभुसहाय से छुट्टी लेकर जब रजनी घर पहुँचा, तो नौ बज चुके थे। उसकी माँ बैठक में एक आरामकुर्सी पर कम्बल लपेटे अधलेटी-सी पड़ी थी। बिजली के हल्के प्रकाश में उसके अधपके केश चमक रहे थे। गौर-वर्ण मुखकी त्वचा ढीली हो गई थी। नेत्रों में चमक ज़रूर थी; पर चिन्ता भी इधर-

उधर मँडरा रही थी। कभी इन्हीं नेत्रोंके जादू ने अरुण-जैसे उदीयमान फ़ौजदारी वकील को आकर्षित किया था। कभी उसके इर्द-गिर्द रुपए के ढेर लगे रहते थे और आज अरुण के उठ जाने पर मान-सहित जीवन व्यतीत करना भी कठिन हो रहा था। इधर उसे रजनी की चिन्ता भी खाए डाल रही थी। गिरीश के आई० सी० एस० होनेपर उसे आशा बँध चली थी अब वह ठिकाने लग जायगी; किन्तु अब तो गिरीश कभी दीखता भी नहीं था। न-जाने क्यों ?

'बीबीजी, आज तो बड़े मज़े में पड़ो हो।'—रजनी ने कमरे में घुसते हुए कहा।

वृद्धा माँ जरा चौंकी और बोली—'तुम हो रजनी ? कहाँ से आ रही हो ?'

'क्लबसे।'

'साथमें गिरीश भी था क्या ?'

'नहीं, प्रभुसहाय थे।'

'आजकल गिरीश कहाँ रहता है ? कभी दीखता ही नहीं।'

'गिरीश !'—रजनी ने ध्यान से अपनी माँ की ओर देखा और बोली—'आई० सी० एस० को बहुत झंझट रहते हैं, माँ ! एक तो काम बहुत अधिक करना पड़ता है, फिर लोगों से मिलना, पार्टियाँ, नाच, खेल, तमाशे सभी में तो जाना होता है। फिर गिरीश को तो घर भी बसाना है। कई दिन तो उसे कोठी ठीक करवाने में लग गए होंगे।'

'अच्छा, उसने कोठी ले ली है ?'

'बहुत बढ़िया और उसे सजाया भी खूब है। हज़ारों लग गए होंगे।'

'हज़ारों ! उस ग़रीब किसान के लड़के के पास इतने रुपए आए कहाँ से ?

'आई० सी० एस० को जो लड़की देता है, उसे यह सब कुछ भी करना पड़ता है, माँ !'

'लड़की देता है, क्या मतलब ?'

'गिरीश की सगाई हो गई है।'

'सगाई हो गई है !'—वृद्धा को मानो किसी ने चाबुक मार दी हो। उसने पाँवों पर पड़े कम्बल को उठाकर जमीनपर फेंक दिया और तनकर कुर्सी पर बैठते हुए बोली—'कहाँ हुई है ?'

'सेठ प्रीतमदास की बेटी के साथ। लड़की सुन्दर है, पढ़ी-लिखी है, चतुर है। हाँ, जरा स्थूलकाय ज़रूर है; पर गिरीश को तो भाती ही मोटी लड़कियाँ हैं। यही वह मुझसे उस दिन कह भी रहा था।'

यह कहते-कहते रजनी के नेत्र डबडबा आए। वह अपनी माँ के ठीक सामने खड़ी थी। कमरे के कोने में बिजली की बत्ती से दूर एक कुर्सी रखी थी। आँसुओं को छिपाने की गरज़ से वह तेजी से बढ़ती हुई उसपर जा बैठी; किन्तु माँ के अनुभव-पूर्ण नेत्रों से कुछ छिप न सका। कुछ देर वह बत्तीपर मँडराते हुए शलभों की ओर देखती रही; फिर एक आह दबाती हुई बोली—'गिरीश को मैं इतना क्षुद्र नहीं समझती थी !'

'शायद वह इतना क्षुद्र हो भी न ! कौन कह सकता है, किन परिस्थितियों का शिकार होकर उसने ऐसा किया है।'

अबकी बार रजनी का गला रुँध गया। नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगी। वह उठी और भागती हुई कमरे से बाहर निकल गई। उसकी माँ एकटक द्वार की ओर देखती रही।

रजनी ने अपने कमरे में घुसते ही अन्दर से साँकल लगा ली। औंधे मुँह अपने बिस्तरे पर जा गिरी और सिसकियाँ भरकर रोने लगी। बहुत देर तक वह यों ही पड़ी सिसकती रही। जब थक गई, तो उठकर बैठ गई। पास रखी हुई ड्रेसिंग-टेबल के बड़े दर्पण में उसने देखा—उसके नेत्र सूज गए थे, चेहरा विकृत हो गया था। उसके भीतर अपने प्रति ग्लानिकी एक लहर दौड़ गई। किसके लिए वह यह भावुकता-पूर्ण मूर्खताका प्रदर्शन कर

रही है, उसने सोचा ? उस क्षुद्र—अति क्षुद्र—गिरीश के लिए ? उसे क्या पड़ी थी उसकी वकालत करने की ? परिस्थितियाँ, मजबूरियाँ, माता-पिता का दबाव—ये सब थोथी दलीलें हैं। वह दूध पीता बच्चा नहीं, दो ही तीन वर्षों में जिले का हाकिम होने जा रहा है। वह क्षुद्र ही नहीं, हृदय-हीन भी है। वर्षों के संचित प्रेम को चाँदी के एक ही ढेर पर निछावर करता हुआ वह जरा भी नहीं झिझका ! नहीं, मैं जिस राह पर चली हूँ, उसे तय करना ही होगा। इस पचास-वर्षीय बूढ़े को आत्म-समर्पण करना ही होगा। इसी से गिरीश को पाठ पढ़ाया जा सकता है।

ठीक इसी समय माँने दरवाजा खटखटाया। उसने झटपट जाकर दरवाजा खोल दिया और मुसकरा कर माँ का स्वागत किया।

'चलो, खाना खायँ, बेटी !'

'चलिए।'

माँ का हाथ पकड़कर रजनी उसके संग हो ली।

४

एक मास के अनन्तर ही माँ के लाख रोकने पर भी रजनी ने अपने निश्चय को व्यावहारिक रूप दे ही दिया। जिस दिन उसका विवाह प्रभुसहाय से हुआ, गिरीश दौरे पर था। इसलिए वन-अग्निकी भाँति फैलती हुई रजनी के विवाह की खबर उस तक न पहुँच पाई। तीसरे दिन जब वह दौरे से लौटा, तो यह खबर पाकर स्तम्भित रह गया। और इसकी सूचना भी दी उसे उसकी भावी पत्नी ने ही।

'क्या तुम सचमुच ठीक कह रही हो ?'—गिरीश ने सामने कुर्सीपर बैठे हुए गौर-वर्ण के उस मांस-पिंडसे जरा चकित होते हुए तीसरी बार पूछा।

'बिलकुल ठीक। इसे नगरका बच्चा-बच्चा जानता है। पता नहीं, तुम्हें क्यों इस पर विश्वास नहीं हो रहा।'—फूले हुए गालों में छिपी हुई आँखों को खोलने का प्रयत्न करती हुई उसकी भावी पत्नी ने जवाब दिया।

'तब तो बहुत अनर्थ हो गया।'—गिरीश ने दोनों हाथों से अपना सिर थाम लिया। 'किन्तु उसने ऐसा किया क्यों ?

इतने में ही एक साइकिल-सवार ने तेज़ी से कोठी के अहाते में प्रवेश किया। गिरीश को बरामदे में बैठा देखकर वह झटपट साइकिल से उतर पड़ा। गिरीश को झुककर सलाम किया और जेब से एक लिफ़ाफ़ा निकाल कर उसके हाथ में पकड़ा दिया।

'यह किसने भेजा है ?'—गिरीश ने पूछा।

'रजनी मेम साहब ने।'—नौकर ने यह कहा और सलाम करके लौट गया।

रजनी ! गिरीश का हृदय धक्-धक् करने लगा। काँपते हुए हाथों से उसने लिफ़ाफ़ा खोला और पढ़ने लगा। उसमें लिखा था—

"मेरा सुख-संवाद तुम अब तक सुन चुके होगे। मेरे पतिदेव ने मेरे निजके खर्चके लिए तीन लाख रुपया मुझे दिया है। इस आशा से कि तुम अपनी परिस्थितियों, मजबूरियों और माता-पिता के दबाव से मुक्ति पा सको एक लाख का यह चेक भेज रही हूँ। अनुरोध करूँगी कि मेरी इस तुच्छ भेंट को ठुकरा न देना। इसे प्राप्त करने में मैं तो अपना आप खो बैठी हूँ; किन्तु यदि तुम इससे अपने-आपको पा लो, तो मैं सुखी हूँगी। आज रात को बाहर जा रही हूँ। पहले बम्बई और वहाँ से विलायत जाने का विचार है।"

पत्र पढ़कर गिरीश के चेहरे पर स्याही पुत गई। हृदय के एकान्त में एक ऐसी गहरी चोट लगी कि वह तिलमिला उठा। अरुणदेव पर तो वह विजय न पा सका था; पर उनकी लड़की उसे इतनी बुरी तरह हरा देगी, यह उसने कभी भूलकर भी न सोचा था।

'क्या लिखा है ?'—उसकी भावी पत्नी ने पूछा।

'कुछ नहीं',—गिरीश ने ज़रा उखड़े हुए स्वर में जवाब दिया—'मैं एकान्त चाहता हूँ।'

'तो तुम चाहते हो कि मैं यहाँ से चली जाऊँ ?—उसकी भावी पत्नी का चेहरा क्रोध से तमतमा उठा।

'हाँ।'

'बहुत अच्छा',—दाँत पीसकर वह बोली—'किन्तु मैं इस अपमान का बदला अवश्य लूँगी।'

और वह उठकर वहाँ से चली गई। गिरीश कुछ न बोला। नेत्र मूँदकर कुर्सी की पीठ पर सिर पटक दिया। आधे ही क्षण में उसकी मूँदी हुई आँखों से आँसू ढुलकने लगे।

नारी-निन्दक !

'विवाह !'—सतीश दम्भ और अभिमान से बोला—'यह सुनहले माया-जाल किसी और के लिए बिछाओ। यह जादू यहाँ न चलेगा। विवाह ! स्त्री !'

उसकी छोटी बहिन उर्मिला ने आश्चर्य से अपने भाई की ओर देखा; किन्तु उनकी भाभी खिलखिला कर हँस दी। उसने आधे क्षण तक अपने देवर के चेहरे का, जिसे निश्चय द्वारा प्रेरित कठोरता केवल छू भर सकी थी, निरीक्षण किया। फिर रेशम से कोमल स्वर में वह कहने लगी—भाई सतीश, हमसे कौन-सी भूल हो गई है जो इस भाँति हमारी जाति पर बरस रहे हो ? इतनी घृणा, इतना अन्याय ! इसका कुछ कारण भी तो सुनूँ ?'

'कारण !'—सतीश ने अपने बड़े-बड़े नेत्रों द्वारा अपनी भाभी और बहिन की ओर देखा। उसके सुन्दर ओठ ज़रा फड़क उठे और उसने जोश से जवाब दिया—'अनन्त काल से तुम हमें अपने खिलौने समझती चली आ रही हो। तुम्हारे एक-एक हाव-भाव द्वारा पुरुष सृष्टि के आरम्भ से बन्दर की तरह नाचता चला आ रहा है। हम में से बड़े से बड़े

को भी तुम लोग पलक मारते ही पागल बना सकती हो। कारण! क्या यह कम कारण है?'

'भैया'—उर्मिला दुःख; परन्तु क्रोध से भरे स्वर में बोली—'भैया, होश में तो हो। पुरुष और खिलौना, ऐसी अनहोनी बातें न करो। हमें आज तक धूल की तरह रौंदते चले आते हुए भी उल्टा हमें दोषी ठहरा रहे हो। खूब!'

'आह! यही तो तुम्हारी चतुरता है।' ओठों को बल देकर मुस्कराते हुए सतीश ने फिर आक्रमण किया—'पुरुष को कठपुतली-सा नचाते हुए भी स्वयं शहीदों का-सा वाह्याडम्बर रचने और उसे सफलतापूर्वक निभाने में तुमने सचमुच कमाल किया है।'

उर्मिला का क्रोध और भी भड़क उठा। जिसने उसे लगभग निरुत्तर कर दिया, पर उनकी भाभी ज्यों की त्यों शान्त थी। जरा मुस्करा कर उसने एक बार फिर सतीश की ओर देखा और मधुरता से प्रश्न किया—'सतीश, भला शिशु-संसार की ओर भी कभी आकृष्ट हुए हो?'

'शिशु संसार! भला उसकी ओर कौन आकृष्ट नहीं होता।' उसने वेपरवाही से जवाब दिया।

'तो भई उनकी खातिर ही'—उसकी भौजाई ने फिर चोट की—'अपने बराबर आसन दे कर किसी अबला पर दया करो।'

'इसकी जरूरत ही क्या है। मैं संसार भर के बच्चों को अपना समझता हूँ!' उसने अहम्मन्यता से जवाब दिया। ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह इस विषय पर बहुत सोच चुका है और इससे अधिक सोचना वह उचित नहीं समझता।

उसकी भाभी ने एक ज्ञानी की भाँति उसकी ओर देखा और गम्भीरता से बोली—'सतीश, इतने न उड़ो। याद रखना तुम्हारे हृदय में भी एक दिन सहचरी की लालसा इस तीव्रता से जागेगी कि सँभाले न सँभल सकेगी। पर तब तक अवसर ही बीत चुका होगा।'

सतीश खिलखिला कर हँसा और तेज़ी से कमरे से बाहर हो गया।

२

दस वर्ष बीत गये। सतीश जो उन दिनों मेडिकल कॉलेज में पढ़ता था, आज पूर्ण रूप से डॉक्टर बन चुका था। उसे तो प्रैक्टिस करते भी अब एक मुद्दत हो चुकी थी।

इन दस वर्षों के आरम्भ में तो उसे अनेक अवसर उपयुक्त सहचरी चुनने को मिले; पर वह सब को ठुकराता चला गया। आखिर बात फैल गई। लोगों ने उसकी ओर से मुँह मोड़ लिया। अब तो कई दिनों से इस उद्देश्य को लेकर एक भी व्यक्ति उस तक न पहुँचा था। पहले तो वह इस बात से प्रसन्न हुआ; परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया उसके हृदय में एक अव्यक्त विषाद छाने लगा। शायद लोगों की इस विमुखता से उसके यौवन और आत्माभिमान को एक ठेस पहुँची थी। आखिर उसके जीवन में एक नीरसता, एक कटुता घुस पड़ी। वह अपने में एक पागल बना देने वाली शून्यता का, अभाव का, अनुभव करने लगा।

इस अभाव को दूर करने के लिए उसने अनेक यत्न किये। उसके चारों ओर उपन्यासों और कहानियों की पुस्तकों के ढेर पड़े रहते, जिन्हें वह एक के बाद एक सारा दिन निरन्तर पढ़ता चला जाता था। रात को प्रतिदिन वह सिनेमा तथा थियेटरों के चक्कर काटने लगा। लाहौर जैसे बड़े शहर में अनायास ही मिल जाने वाले आमोद-प्रमोद के दूसरे खेल भी प्राय: वह खेलने लगा। लेकिन बात न बन सकी। बनती भी कैसे? बालू के स्तम्भों पर भी कभी इमारत टिक सकती है? उसके जीवन में न सरसता ही आई, न अभाव ने ही उसका पिण्ड छोड़ा।

तो क्या इस नीरसता का कभी अन्त भी होगा? वह अभी-अभी एक उपन्यास समाप्त कर चुका था और एक सर्द आह लेकर दूसरे को खोल ही रहा था, जब यह प्रश्न उसके मस्तिष्क में सहसा कौंध गया। उसने पुस्तक ज़मीन पर पटक दी और कुर्सी से उठ कर कमरे में बेचैनी से

टहलने लगा और सोचने लगा।

हाँ, अन्त हो सकता है, लेकिन इसके लिए उसे उस सञ्जीवनी को ढूँढना होगा जो उसके शुष्क हृदय को रस से प्लावित कर दे। और उस सञ्जीवनी के लिए उसे किसी कोमल और कमनीय हृदय को टटोलना होगा। तो क्या जीवन सरस बनाने के लिए उसे उनकी ही शरण लेनी पड़ेगी, जिन पर वह आज तक फब्तियाँ और कटूक्तियाँ कसता चला आ रहा है। नहीं, यह कभी नहीं हो सकता। चाहे कुछ भी हो, वह अपने आदर्शों पर अटल रहेगा। उन्हें किसी भी अवस्था में बलिदान न करेगा।

पर उसकी लाख कोशिशें भी उसे न बचा पाईं। वह अपने आदर्शों से आखिर फिसल ही तो गया। कुछ अनुभवहीनता पर अधिकतर उतावली के कारण जा टकराया एक इस्पात से भी कठोर चट्टान के साथ जिसकी ऊपरी सतह हृदय-हारी पुष्पों और लताओं से आच्छादित थी।

सतीश के मकान के निकट एक मिस्टर मेहता रहते थे। उनके बच्चों के बीमार होने पर वह एक-दो बार उनके यहाँ गया था। वहीं मिसेज़ मेहता से उसकी जान-पहिचान हुई। मिसेज़ मेहता कॉलेज की पढ़ी-लिखी एक बहुत ही सुन्दर महिला थी। अपने कॉलेज के दिनों में वह अवश्य बहुत उच्छृङ्खल थी। उस पर रोमांस की एक मस्ती छाई रहती थी; लेकिन दस वर्षों के विवाहित जीवन तथा चार बच्चों ने उसकी वह सारी उच्छृङ्खलता, वह सारी मस्ती, छूमन्तर कर दी थी। यही नहीं, बल्कि पुरानी पोथियों में वर्णित स्त्रीत्व के आदर्शों पर उसे श्रद्धा होती जा रही थी। उन आदर्शों में उसे एक अनूठा आकर्षण मालूम देता था। हाँ, किसी भी पुरुष से सब प्रकार के विषयों पर बातचीत करने में उसे अब भी कुछ हिचकिचाहट न थी। उसके ओठों पर अब भी एक मोहक मुस्कान खेलती रहती थी। उसी मिसेज़ मेहता से जीवन की सरसता लेने के लिए सतीश आगे बढ़ा।

मिसेज़ मेहता को पढ़ने का बहुत शौक़ था। और अपने बच्चों पर

वह पागल थी। इसलिए इन्हीं के सहारे सतीश ने उसके हृदय पर जादू डालना आरम्भ किया। पहले आपस में पुस्तकों का लेन-देन हुआ। फिर सतीश का बच्चों से हेल-मेल बढ़ा। बच्चों ने सतीश के गुण गाने आरम्भ किये। सतीश मिस्टर और मिसेज़ मेहता दोनों की दृष्टि में बहुत ऊँचा उठ गया। यदि सच पूछो तो उन बच्चों के कारण ही उसका उनके घर में आना-जाना बेरोक-टोक हो गया।

बात बढ़ती चली गई। बच्चे पिता से भी अधिक सतीश के हो उठे। सतीश अपने हृदय की ज्वाला छिपाये हुए मिसेज़ मेहता के इर्द-गिर्द एक शलभ की भाँति मँडराने लगा। मिसेज़ मेहता की रूप-राशि ने उसे पागल बना दिया; लेकिन मिसेज़ मेहता के भाव उसके प्रति क्या हैं; वह लाख सिर पटकने पर भी न समझ पाया। वह सतीश के साथ खिलखिला कर हँसती, उसके भावों की सुनहली उड़ानों में उसका साथ देती; लेकिन उसे रखती सदा अपने से दूर। सतीश इस स्थिति से तंग आ गया। कई बार उसके मन में उठा कि अपने हृदय को चीर कर उसके भीतर की ज्वाला से मिसेज़ मेहता के उर को छू दे; परन्तु साहस न पकड़ पाता।

३

आज वह उनसे मिलने जा रहा था जीवन की सब से बड़ी साध ले कर! कई दिनों के निरन्तर यत्नों और सपनों के द्वारा आज उसमें एक स्फूर्ति जागृत हो उठी थी। उसे पूर्ण आशा थी कि अब वह मिसेज़ मेहता और अपने भविष्य की वे सुनहली तथा हृदय-हारिणी तस्वीरें खींचेगा कि वह मन्त्र-मुग्ध हो जायगी। उसके हृदय में उमड़ती हुई नदी का वेग इस ज़ोर से मिसेज़ मेहता के साथ टकरायेगा कि उसके पाँव उखड़े बिना न रह सकेंगे। मिसेज़ मेहता के हाथ को हाथ में लेकर गगन-चुम्बी पहाड़ों की चोटियों के ऊपर उड़ता हुआ वह अपने आप को साफ़ देखने लगा।

आज सुबह से उसने एक भी रोगी से बात न की थी। कुछ उसकी प्रतीक्षा में बैठे थे, कुछ ऊब कर लौट चुके थे। वह अपने सूटों और बूटों,

चेहरे और बालों में ही उलझा रहा। जब तैयार होकर वह बड़े आईने के सामने खड़ा हुआ तो उसे बहुत सन्तोष हुआ। मालरोड की ऊँची दूकान का सिला हुआ भूरे रङ्ग का सूट उसके लम्बे सुगठित शरीर पर खूब खिल उठा था। दूध की भाँति श्वेत कॉलर, नई नैकटाई, बिल्लौर की तरह चमकता हुआ विलायती जूता। वह ओठों को बल दे कर मुसकराया। आज उसके आक्रमण से कौन बच सकता था! मिसेज़ मेहता को आज परास्त होना ही पड़ेगा।

आईने से हट कर उसने कलाई पर बँधी घड़ी की ओर देखा। अभी दस बजने में दस मिनट बाक़ी थे। आज वह दस बजने के अनन्तर मेहतों के यहाँ जाना चाहता था; क्योंकि तब तक मिस्टर मेहता तथा बच्चे जा चुके होंगे। इसलिए दस मिनट उसे और प्रतीक्षा करनी होगी। वह कमरे में टहलने लगा और अपने मस्तिष्क में शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने लगा! कोई सात-आठ मिनट तक वह ऐसे ही टहलता रहा। फिर घड़ी की ओर देखा! अभी दो मिनट बाकी थे। वह पास पड़ी कुर्सी पर बैठ गया। सिगरेट-केस से एक सिगरेट ले कर सुलगाया और आँखें मूद कर उसे पीने लगा। दो ही चार कश ले कर वह उठ बैठा। सिगरेट को मसल कर एश्ट्रे में फेंक दिया। एक बार फिर आईने में अपने प्रतिबिम्ब को देखा, फिर अपनी टोपी उठा कर मकान से बाहर हो गया।

मिस्टर मेहता की कोठी उसके मकान के बिल्कुल निकट थी। वह पाँच मिनट में ही वहाँ जा पहुँचा। मिसेज़ मेहता कोठी के बाहर फुलवारी में टहल रही थीं। एक बहुत बढ़िया सफ़ेद रेशमी साड़ी, जिसका किनारा गहरा नीला था, पहने थी। सतीश ने कोठी में घुसते ही उन्हें देख लिया। प्रसन्नता से उनकी ओर बढ़ने लगा।

'आइए, आज तो बहुत जल्दी निकल पड़े हो'—मिसेज मेहता ने सतीश को सिर से पाँव तक देखा। उस बाह्याडम्बर के भीतर क्या छिपा

है, वह आधे क्षण में भाँप गई। एक हल्की-सी मुस्कान उसके ओठों को छू कर अदृश्य हो गई।

'हाँ, आज ज़रा जल्दी ही छुटकारा पा गया हूँ'—उसने हँस कर जवाब दिया।

वाटिका के मध्य में दो-तीन कुर्सियाँ पड़ी थीं। मिसेज़ मेहता के आदेशानुसार सतीश एक कुर्सी पर बैठ गया। उसके सामने वाली कुर्सी गृहस्वामिनी ने ले ली। कुछ क्षण दोनों चुप रहे। नेत्रों द्वारा एक दूसरे को तौलते रहे। महीनों शब्दों और वाक्यों का जाल बुन-बुन कर जो वक्तृता सतीश ने इस अवसर के लिए रखी थी, जिसका एक-एक शब्द उसके मस्तिष्क में अंकित था, उसे आरम्भ करने के उसने कई प्रयास किये; पर व्यर्थ। शब्द उसके गले तक अवश्य आते; लेकिन उसका उपहास करते हुए एक दूसरे से टकरा कर वहीं रह जाते।

'मैं···'उसने सारा साहस बटोर कर आरम्भ किया। फिर रुक गया।

'हाँ कहिए'—मिसेज़ मेहता ने उसे उत्साहित किया।

'क्या आप स्वतन्त्र-प्रेम को बहुत बुरा समझती हैं?'

'बिलकुल नहीं!—मिसेज़ मेहता ने मधुर-स्वर में जवाब दिया—'जो जिसके हृदय में अग्नि प्रज्वलित कर सकता है, वह उसका है और होकर रहेगा। ऐसा मेरा बहुत दिनों का विश्वास है।'

'तो फिर'—सतीश की झिझक अब दूर होती जा रही थी—'विवाह के बन्धन तोड़ कर भी हृदय का लेन-देन हो सकता है?'

'क्यों नहीं! हृदय के उमड़ते हुए वेग के आगे विवाह के बन्धन कब टिक सकते हैं?'

सतीश आनन्द से उछल पड़ा। वातावरण इतनी शीघ्रता से उसके अनुकूल हो उठेगा, उसे स्वप्न में भी आशा न थी। उसका आत्म-विश्वास तो अब आस्मान छूने लगा। शब्दों और वाक्यों के जो दल-बल उसने

बाँध रक्खे थे, सब के सब उसके मस्तिष्क में सुलझते हुए आकर बैठने लगे।

'मालती'—प्रेमियों के-से थिरकते स्वर में उसने धड़कते दिल से आरम्भ किया 'मेरे निराश तथा अंधकार-मय जीवन में केवल तुम्हीं एक—तुम्हीं एक ज्योति की रेखा हो। तुमने मुझ पर सरसता और मधुरता का वह अमृत छिड़का है जो दिव्य है, अलौकिक है। यदि तुम मेरे जीवन-पथ को आलोकित न करतीं तो मेरा अन्त कितना दुःखमय होता, कौन कह सकता है। इतने दिनों तक अपने आन्तरिक भावों को प्रदर्शित करते हुए झिझक रहा था, परन्तु आज नहीं रह सका। मालती, आज मैं तुम्हारे चरणों पर सर्वस्व समर्पण करने आया हूँ। क्या इस तुच्छ भेंट को स्वीकृत करके तुम मुझे कृतकृत्य न कर दोगी ? तुम और मैं···'

'भैया'—मालती खिलखिला कर हँसी—'यह किस तृतीय श्रेणी के उपन्यासकार के शब्द लाकर सर्वस्व समर्पण करने चले हो ?'

'भैया !' सतीश का मुख एकदम लज्जा से लाल हो उठा। फिर देखते ही देखते लाली अदृश्य हो गई और चेहरे पर स्याही पुत गई। इतने तीखे व्यंग्य से उसके भावों का स्वागत होगा, उसने भूल कर भी न सोचा था।

'हाँ भैया'—मालती ने ज़रा बनावटी गम्भीरता से कहा—'इतने महान् प्रेम का इससे कम मूल्य कौन आँक सकता है ? यह अलौकिक प्रेम भला उच्छृङ्खलता की बेड़ियों में बँध सकता है ?'

'परन्तु...!' सतीश कुछ कहने लगा; परन्तु कह न सका। शब्द गले में अटक गये। उठ खड़ा हुआ। एक-दो पग अन्यमनस्क भाव से चला, फिर रुक गया। एक-टक मालती की ओर देखता हुआ बोला—'अब आज्ञा चाहता हूँ।'

'इतनी जल्दी !'—शहद के-से मधुर-स्वर में मालती कहने लगी—'कुछ देर तो और बैठो।'

'नहीं' अब जाना चाहता हूँ।'

उसने दोनों हाथ जोड़ कर मालती को नमस्कार किया। घास पर पड़ी हुई अपनी टोपी उठा कर सिर पर रखी और उतावली से डग भरता हुआ कोठी के दरवाज़े की ओर बढ़ने लगा। मालती ने उसकी ओर देखा और ज़रा मुस्करा दी।

४

मालती अपनी कोठी के बरामदे में बैठी थी, हाथ में अंगरेज़ी की एक पत्रिका थी। परन्तु वह उसके पृष्ठ भी नहीं उलट रही थी। बरामदे के बाहर आँगन में चिड़ियाँ शोर मचाती हुई आपस में झगड़ रही थीं। उसकी दृष्टि उन पर जमी थी। डूबते हुए सूर्य की लाल किरणें झाड़ियों से छन कर चिड़ियों से अठखेलियाँ करती हुई मानो उस झगड़े को नैसर्गिक उत्तेजना प्रदान कर रही थीं। मालती मन्त्र-मुग्ध-सी बैठी यह सब कुछ निहार रही थी। इतने में किसी की छाया चिड़ियों पर पड़ी, वह झगड़े को किसी आने वाले दिन पर स्थगित करके फड़-फड़ा कर उड़ गईं। मालती ने ज़रा आश्चर्य से उधर से दृष्टि हटा कर सामने देखा। उसके पति द्रुत-गति से बढ़े आ रहे थे।

'कुछ सुना?'—मिस्टर मेहता ने टोपी उतार कर पास वाली खूँटी पर टाँग दी और मालती के सामने वाली कुर्सी पर बैठ गये।

वही हुआ होगा जिसकी आशा वह उसी दिन से पाल रही थी, जिस दिन सतीश से अन्तिम भेंट हुई थी, इसका उसे पूर्ण विश्वास था। फिर भी एक हल्की-सी उत्सुकता से उसने पति की ओर देखा और पूछा—'क्यों, क्या हुआ?'

'सतीश आज पाँच दिन से लापता है।' उसने ज़रा प्रभावित स्वर में कहा।

पाँच दिन से! ठीक तो है। आज से पाँच दिन पहले ही तो वह उसके जीवन में हाहाकार मचाने आया था। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो

उसने एक अनूठी विजय प्राप्त की हो। इसलिए जरा लापरवाही तथा दम्भ से भरे स्वर में बोली—'चला गया! उसको जाना ही था।'

'जाना ही था?'—पति ने पत्नी को सिर से पाँव तक देखा और पूछा—'क्यों?'

'इसलिए कि उसके ऐसा कृत्रिम-जीवन कौन कब तक व्यतीत कर सकता है। वह धधकती हुई अग्नि को राख से दबाता चला आ रहा था। पर यह कब तक सम्भव था। आखिर अग्नि की दो ही फुङ्कारों से राख उड़ गई और अग्नि को मनमानी करने के लिए छोड़ गई'

'पर वह गया कहाँ होगा?'

'सहचरी की तलाश में।'

'वह तलाश तो यहाँ बैठ कर भी हो सकती थी।'

'हाँ, हो तो सकती थी।'—मालती व्यङ्ग से बुझे स्वर में कहने लगी—'लेकिन इसके लिए एक ऐसे साहस की जरूरत थी जो सतीश बाबू में नहीं है। वर्षों तक जहाँ बैठ कर जिसने किसी जाति के प्रति विष फैलाया हो, वह उसी स्थान पर, उसी जाति से भिक्षा माँगने नहीं निकलता।'

मिस्टर मेहता कुछ देर तक चुप रहे। एकटक अपनी पत्नी की ओर देखते रहे। फिर आहिस्ते से बोले—'कुछ भी हो, मुझे सतीश के विषय में बहुत खेद है। इतने उदीयमान जीवन का यह अन्त?'

'खेद?'—उसने प्रश्न-सूचक भाव से पति की ओर देखा, 'इस पर फिर कभी विचार किया जायगा। अब चाय को बहुत देर हो रही है। उठो और जल्दी से मुँह-हाथ धो डालो।' यह कह कर मिसेज मेहता ने पास की दीवार के साथ लगे हुए रसोई पर की घण्टी के बटन को दबाया। मिस्टर मेहता उठ खड़े हुए और अन्यमनस्क भाव से गुसलखाने की ओर चल दिये।

५

'वह देखो उस छोटी सी झोंपड़ी से धुआँ उठ रहा है'—उर्मिला ने

कहा—'वहाँ शायद पानी मिल जाय।'—

'चलो देख लेते हैं'—उसकी भाभी ने जवाब दिया—'लेकिन इसके अनन्तर मैं कभी भूल कर भी पहाड़ी खड्डों में सैर के लिए न निकलूँगी। कितना फँसाया है आज तुमने।'

उर्मिला, उसका पति और भाभी कुछ दिनों से मसूरी आये हुए थे। आज उर्मिला के बहुत आग्रह करने पर वे सीधे रास्ते को छोड़ कर खड्डों की राह सैर के लिए निकल पड़े थे। आरम्भ में तो चारों ओर बादल ही नहीं छाये हुए थे; बल्कि छोटे-छोटे भाप के टुकड़े भी उनके चेहरों के साथ अठखेलियाँ करते हुए उन्हें अद्भुत उल्लास प्रदान कर रहे थे। इसलिए वे उसी उल्लास की मस्ती के रंग में रँगे हुए, उन भाप के टुकड़ों के साथ आँख-मिचौनी खेलते हुए दो-तीन मील तक खड्ड में नीचे बढ़ते हुए चले गये। इसके अनन्तर बादल सहसा छिन्न-भिन्न होकर अदृश्य हो गये, मानो उन्हें किसी ने जादू की छड़ी से छू दिया हो। चारों ओर धूप फैल गई। देखते ही देखते सूर्य की किरणों का ताप प्रखर हो उठा। पाँच ही मिनट में वे सब पसीने से लथ-पथ हो गये। एकाएक वहाँ की भूमि उन्हें बहुत ऊबड़-खाबड़ मालूम देने लगी। पाँवों के नीचे इधर-उधर बिखरे हुए पत्थर एका-एक नुकीले हो उठे। उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि वे थक कर चूर हो गये हैं और प्यास ने तो उन्हें व्याकुल ही कर दिया।

खैर, सभी लोग उर्मिला की दिखाई हुई झोंपड़ी की ओर मानो भारी पाँव लिये हुए चल दिये। आखिर किसी तरह गिरते-पड़ते वहाँ तक जा ही पहुँचे। झोपड़ी के बाहर एक ज्वार का खेत था, उसी में एक स्त्री बैठी काम कर रही थी। चपटी नाक, छोटी-छोटी आँखें और मोटे ओंठ। हाँ, रंग उसका अवश्य गोरा था। देखने से तो वह पहाड़ी मालूम देती थी; लेकिन पहने हुए थी एक मैली-कुचैली सूती साड़ी। इन सब को अपनी ओर बढ़ते हुए देख कर वह उठ खड़ी हुई। उर्मिला ने आगे बढ़ कर पूछा—'क्या यहाँ पीने का पानी मिल जायगा? हम प्यास से व्याकुल हैं।'

उसने पहाड़ी बोली मिश्रित टूटी-फूटी हिन्दी में बतलाया—'पानी के अतिरिक्त यदि वे चाहें तो रूखा-सूखा खाने को भी मिल सकता है।'

'नहीं, हमें तो पानी ही चाहिए।'—भाभी ने कहा।

वह उन तीनों को अपने साथ मकान पर ले आई। मकान कच्चा बना हुआ था। उसमें दो छोटे-छोटे कमरे थे। एक-एक खिड़की के अतिरिक्त उन दोनों कमरों में आमने-सामने दो-दो दरवाज़े थे। कमरों के आगे एक छोटा-सा बरामदा था। उसमें एक चारपाई पड़ी थी और एक टूटी-सी कुर्सी। बरामदे के कोने में एक पुराना विलायती जूता भी पड़ा था। उर्मिला और उसका पति तो चारपाई पर बैठ गये और भाभी कुर्सी पर। गृह-स्वामिनी बरामदे के एक ओर को बने हुए रसोई-घर में घुस गई और कुछ ही देर में उन तीनों के लिए गिलासों में पानी ले आई। न गिलास ही पूरी तरह साफ़ थे और न पानी ही। लेकिन सब ने एक ही साँस में गिलास खाली कर दिये।

'क्या आप यहाँ अकेली ही रहती हैं?'—पानी पीकर उर्मिला की भाभी ने गृह-स्वामिनी से पूछा।

'नहीं, मेरा आदमी भी साथ रहता है।'—उसने उत्तर दिया। कुछ देर रुक कर वह फिर बोली—'वह डॉक्टर है डॉक्टर।'

'सच!'—उर्मिला के चेहरे पर बनावटी आश्चर्य था।

'सच नहीं तो और क्या। वह इस समय सो रहा है, नहीं तो अभी आप सब को उससे मिला देती।'

इतने में पास वाले कमरे में किसी के हिलने डुलने की सरसराहट हुई। आधे क्षण के बाद ही कमरे के सामने का दरवाज़ा आहिस्ते से खोल कर एक मनुष्य तीर की भाँति कमरे से बाहर हो गया। भाभी को उस दरवाज़े का थोड़ा अंश दृष्टिगोचर था। इसलिए जाने वाले की पीठ उसे भली-भाँति दीख गई। उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह एकाएक

उसे आवाज़ देने के लिए उठी; पर कुछ सोच कर रुक गई। फिर झटपट ज्यों की त्यों बैठ गई। उर्मिला और उसका पति डॉक्टर की पत्नी का उपहास उड़ाने में लगे थे। इसलिए भाभी की व्यग्रता की ओर उनका ध्यान बिलकुल ही न जा सका।

कोई पाँच मिनट के अनन्तर वे वहाँ से उठ कर चल दिये। रास्ते में भी उर्मिला और उसका पति उस डॉक्टर की पत्नी और डॉक्टर की चर्चा उपहास-प्रद शब्दों में करते चले जा रहे थे। उनकी भाभी बिलकुल चुप थी। कुछ दूर चले जाने पर उर्मिला का ध्यान भाभी की ओर आकृष्ट हुआ।

'भाभी, आज इतनी गुमसुम क्यों हो? क्या बहुत थक गई हो?'

'नहीं उर्मिला! थकावट तो अब दूर हो चुकी है।'

'फिर?'

एक मनोवैज्ञानिक पहेली पर विचार कर रही थी इसलिए चुप थी।'

"ऐसे विचार का अवसर किसने दिया है क्या मैं पूछ सकती हूँ?'

"अवश्य। उस झोंपड़ी में रहने वाले डॉक्टर और उसकी पत्नी ने।'—वह गम्भीरता से कहती चली गई—'इतना बड़ा तथा इतना पढ़ा-लिखा डॉक्टर क्यों एक अपढ़, गँवार, कुरूप पहाड़ी स्त्री पर आ गिरा है? इसी समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करती आ रही थी।'

उर्मिला और उसका पति दोनों खिलखिला कर हँस दिये—'भाभी आप भी खूब हैं'—पति महोदय कहने लगे—'यह कहाँ से निश्चय हो गया कि उस स्त्री का स्वामी एक पढ़ा-लिखा डॉक्टर था। आजकल दो-चार दर्जे तक पढ़ा हुआ जो भी कोई होमियोपैथिक की एकाध किताब देख लेता है, डॉक्टर बन जाता है। वैसा ही कोई अर्द्ध-शिक्षित पहाड़ी लौंडा यहाँ डॉक्टर बना बैठा है—मेरा विश्वास है।

'यदि मैं अपनी आँखों से न देख आती तो मेरा भी यही विश्वास होता।'—भाभी ने एक दीर्घ निःश्वास ली।

'आँखों से ? आपने क्या देखा ?'—उर्मिला ने तेज़ी से पूछा।

'उस डॉक्टर को देखा।'

'वह कौन है?'—उर्मिला का स्वर व्यग्र हो उठा था—'हमारा सतीश।'

'सतीश !' उर्मिला को मानो किसी ने चाबुक मार दिया। उछल कर बोली—'यह असम्भव है। आपने वहीं क्यों नहीं बताया। चलो उसके पास चलें।'

वह मुड़ कर खड़ी हो गई और भाभी का हाथ पकड़ कर खींचने लगी—'चलो, जल्दी चलो।

'चलें उसको लज्जित करने के लिए, उसे मिट्टी में मिलाने के लिए। नहीं, वहाँ जाना ठीक नहीं।'—भाभी ने अपना हाथ छुड़ाते हुए कहा।

'परन्तु…'—उर्मिला के नेत्रों में चुनौती थी।

'देखो उर्मिला, हठ मत करो।' उसकी भाभी की वाणी अनुनय से ओत-प्रोत थी—'संसार की दृष्टि से छिपा कर सतीश ने अपना गृहस्थी का एक घोंसला बनाया है। वह कैसा भी हो, पर उस घोंसले में हलचल मचाने जाना हमारे लिए बिलकुल उचित नहीं। ऐसा करना सतीश के प्रति घोर अन्याय होगा। मैं तुझे विश्वास दिलाती हूँ कि सतीश का यही दृष्टिकोण है। इसलिए उधर से मुँह मोड़, सीधा घर की राह पकड़ो।'—यह कहते-कहते भाभी का गला भर आया। उर्मिला ने कुछ जवाब न दिया। अपने नेत्रों में उमड़ते हुए आँसुओं से झगड़ती हुई पति का हाथ पकड़ कर भाभी के पीछे-पीछे घर की ओर चल दी।

कहानी का अंत

मुझे उस दिन यहाँ के बड़े दफ्तर में अपने एक मित्र के पास काम से जाना पड़ा। मैं अभी वहाँ जाकर बैठा ही था कि ज्योति-हीन परन्तु

चंचल आँखों से मुझे घूरता हुआ एक व्यक्ति मेरे पास से निकल गया। बढ़ी हुई तथा मैली अधपकी दाढ़ी, अन्दर धँसी हुई गालें, रेखांकित मस्तक, रूखे बाल, फटे हुए तथा मैले कुचैले वस्त्र, पाँव नंगे, सिर नंगा। इतने बड़े सरकारी दफ्तर में मानवता का यह विचित्र नमूना क्या कर रहा है, मैं सोचने लगा। ज़रा कुतूहल से अपने मित्र से पूछा, "यह दरिद्रता की मूर्ति कौन है ?"

"दरिद्रता की मूर्ति !" उसने मेरी अज्ञानता पर हँसकर जवाब दिया, "यह निरा सोना है सोना। इधर के दफ्तरों में कौन है जो इस के व्यक्तित्व से अपरिचित हो। डेढ़ सौ पाता है और एक सौ चालीस बचाता है।"

"एक सौ चालीस ?" मैंने आश्चर्य से उसकी ओर देखा।

"हाँ। और यह सब सोने के टुकड़ों में इसके यहाँ मौजूद है।"

"सोने के टुकड़ों में।" मुझे और भी आश्चर्य हुआ।

"हाँ स्वर्ण ही इसके जीवन का ध्येय है। सोने से कभी एक साँस भी अलग नहीं होता। दिन भर अपने सोने के टुकड़ों की उधेड़-बुन में लगा रहता है। कभी उनसे काल्पनिक महल गढ़ता है और कभी उनका माया-जाल बुन कर अपने चारों ओर फैला लेता है। रात को अपने स्वप्नों द्वारा सोने का एक संसार बसा कर उसी में मग्न हो जाता है। मुझे विश्वास है कि इस समय भी इसकी जेब में दो चार सोने के टुकड़े अवश्य होंगे।"

"सचमुच ?"

उसने मेरे संदेह का कुछ जवाब न दिया। जिस राह से वह अद्भुत व्यक्ति गया था उसी राह पर तेज़ी से चल दिया और कुछ ही क्षणों बाद उसे साथ लेकर लौट आया।

"देखो भाई जगतराम ये कहते हैं तुम्हारे पास इस समय सोना हो ही नहीं सकता ?"

"मेरे पास !" उसने अभिमान से मेरी ओर देखा और अपने कोट की भीतरी जेब में हाथ डाल उसमें से सोने के पाँच छः बड़े बड़े टुकड़े

निकाल उन्हें मेज पर फेंकता हुआ बोला, "यह लीजिये जगत् का स्वर्ण-स्नेह झूठा नहीं है।"

कंचन के उस अद्भुत पुजारी की ओर मैंने जरा ग़ौर से देखा और मुस्करा कर पूछा, "सोने को छोड़ कर क्या किसी और चीज़ से भी कभी आपने प्रेम किया है ?"

"प्रेम ?" सहसा उसके चेहरे पर एक अलौकिक मृदुलता खेल उठी। गंभीर स्वर में बोला, "हाँ किया है।"

"किससे ?"

"पूछते हो किससे।" उसके चेहरे पर की मृदुलता एक क्षण में ही लुप्त हो गई। अपने स्वर में एक तीखा व्यंग्य भर मेरे प्रश्न को कविता की भाषा में फँसा कर मानों मुझे लौटाता हुआ कहने लगा, "सर्दी में सुनहली धूप से और पतझड़ में पीले पत्तों से।"

वह मेज पर पड़े हुए अपने सोने के टुकड़ों को उठाने लगा। उन्हें अपनी जेब में डाल कर उसने मेरी ओर फिर देखा और सीधी भाषा में बोला, "बाबू जी प्रेम की कहानियाँ दिल में छिपी हुई ही शोभा पाती हैं। उन्हें छेड़ कर जगाने से क्या लाभ ?"

यह कह कर मुझे विस्मित सा छोड़ कर वह चुपके से वहाँ से चल दिया।

२

उस स्वर्ण-दीवाने की प्रेम-कहानी जानने के लिए मेरे हृदय में एक कुतूहल तो अवश्य उठता रहा। पर न तो अधिक अवकाश ही मिलता था और न ही इस विषय को लेकर उसके सम्मुख जाने का साहस होता था। इसलिए दिन पर दिन बीतते गये और उनके साथ ही कुतूहल भी मंद पड़ता गया। यहाँ तक कि मैंने उसे मिलने का निश्चय ही लगभग छोड़ दिया किन्तु विधि के तो ढंग ही निराले होते हैं। मेरे अनवकाश तथा संकोच से ऊपर उठ कर उसने एक दिन सहसा उसे फिर मेरे सम्मुख ला खड़ा किया।

मैं अभी हस्पताल से लौटा था। थक कर चूर हो रहा था। इस लिये आराम की आशा में अपने बैठने वाले कमरे के एक कोने में आराम कुर्सी पर आँखें मूँद कर जा लेटा। मुझे यूँ पड़े पड़े कठिनता से अभी दस मिनट ही गुज़रे थे कि मेरी घंटी ज़ोर से बज उठी और इस के साथ ही नौकर ने कमरे में प्रवेश किया।

"क्या बात है ?" मैंने ज़रा खीझ कर पूछा।

"एक मनुष्य आप से मिलना चाहता है, किसी रोगी के विषय में।"

इच्छा तो बहुत हुई कि उसे जवाब दे दूं। पर डॉक्टर को यह अधिकार कहाँ ? क्या जाने नवागन्तुक कौन सी दुःख-गाथा लेकर आया है। मेरी ज़रा सी देर भी अनर्थ ढा सकती है। इसलिये नौकर को उसे अंदर लाने का आदेश दे कर मैं उसी क्षण उठ खड़ा हुआ और रोगी देखने वाले कमरे की ओर लपका। इतने में नौकर भी उसे ले कर आ गया। अरे यह तो वही कंचन-प्रेमी था। आज उसकी दाढ़ी और भी अधिक बढ़ी हुई थी पर सिर पर एक मैली सी पगड़ी रखे था। पाँव में एक टूटा सा जूता भी था। नेत्रों में चंचलता के स्थान पर घबराहट थी। ललाट की रेखाएें और भी गहरी हो उठीं थीं।

"तुम ?" मेरे मुंह से अनायास निकल गया।

"जी। क्या आप ही डॉक्टर अविनाश राय हैं ?" उसने ज़रा आश्चर्य से पूछा। वह भी मुझे पहचान चुका था।

"हाँ। कहिये क्या आज्ञा है ?"

"डॉक्टर साहब एक बड़ी आशा लेकर आपकी सेवा में आया हूँ।"

"क्या कोई बीमार है ?"

"जी मेरा बच्चा," उसने मेरी ओर सहानुभूति-कांक्षी भाव से देखा और ज़रा घबरा कर बोला," आप यदि उसे ठीक कर दें तो मैं अपना सारा स्वर्ण आपके चरणों पर ला रखूँगा। क्या आप अभी उसे देखने के लिये चल सकेंगे ?"

"क्यों नहीं।"

३

मैं उसके संग हो लिया। मेरी मोटर अभी बाहर ही खड़ी थी। मोटर ने दस ही मिनट में हमें उसकी बताई गली के बाहर ला खड़ा किया। वह एक पतली सी टेढ़ी मेढ़ी गली थी। उसी के मध्य में छोटा सा तथा बहुत पुराना इधर-उधर के मकानों में फँसा और शायद उनके सहारे ही खड़ा एक मकान था। मुझे लेकर वह इसी में घुस गया। मकान में कूड़े कर्कट से भरा एक छोटा सा आँगन था। उसमें एक कोने में दो तीन धूल से लथपथ बालक खेल रहे थे और उनसे कुछ दूरी पर बैठी एक अधेड़ावस्था की मैली कुचैली स्त्री उन पर खीझ रही थी। आंगन के अन्त में एक ऊबड़ खाबड़ सा जीना था। उसके द्वारा हम मकान की पहली छत पर जा पहुँचे। इसी छत की दाहिनी ओर रोगी का कमरा था। कमरे में घुसते ही मैं दंग रह गया वह इतना साफ़ सुथरा कि आँगन तथा जीने से उलझती आ रही आँखें उसे देख कर सचमुच चौंधिया गईं। कमरे के मध्य में दूध की भाँति एक स्वच्छ बिछौना बिछ रहा था और उस पर पड़ा था मुर्झाये कमल के फूल सा एक आठवर्षीय अबोध बालक। उसके चेहरे पर करुणा झलक रही थी नेत्रों के कोनों से वेदना झाँक रही थी पर होठों पर अल्पस्फुटित मुस्कराहट थी।

चारपाई के निकट कुर्सी पर कोई लगभग साठ वर्ष की एक पतली सी बूढ़ी औरत बैठी थी। उसकी साड़ी हिम की भाँति श्वेत थी और रंग संगमरमर की तरह। उसका चेहरा झुर्रियों से भरा था पर आँखों में एक अद्भुत ज्योति थी, लावण्य था। ऐसे प्रतीत होता था जैसे किसी ने रातों रात एक नवेली अप्सरा से छीन कर उन्हें पुरानी आँखों के बदले उसके चेहरे पर जड़ दिया हो। मुझे देख कर वह कुर्सी मेरे लिये छोड़ उठ कर चारपाई पर जा बैठी। कुर्सी पर बैठते हुए मैंने बालक की कलाई हाथ में ली और जगतराम से पूछा, "इसे क्या कष्ट है?"

"डॉक्टर साहब, क्या बताऊँ," उसने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ कर आरम्भ किया, "कभी तो दो-दो चार-चार घंटे इसी भाँति मुस्कराता रहता है फिर सहसा पीड़ा से कराहने लगता है।"

"कहाँ पीड़ा होती है ?"

"पेट में।"

जिनके कोनों पर चिन्ता मँडरा रही थी ऐसे चार उत्सुक नेत्रों के निरीक्षण से मैंने परीक्षा आरम्भ कर दी। दस ही मिनट में मैंने रोग ढूँढ लिया। उसे अंतड़ियों का तपेदिक था और था भी काफ़ी पुराना।

"क्यों जी ?" धड़कते दिल से जगतराम ने मुझे अंग्रेज़ी में पूछा।

"मैं समझता हूँ इसे टी. बी. है" मैंने भी अंग्रेज़ी में जवाब दिया। मेरा ख्याल था कि जादू के नेत्रों वाली वह बुढ़िया कुछ भी न समझ पायेगी। पर टी. बी. हमारी घरेलू बातचीत में इस आसानी से घुस चुका है कि उसे तो आजकल अपढ़ भी समझ लेते हैं।

"टी. बी.।" बुढ़िया सहसा चिल्ला उठी। उसका हृदय वस्त्रों के बंधन तोड़ कर धड़कता हुआ साफ़ दीखने लगा। उसके करुणा-जनक नेत्रों में आँसू छलकने लगे, "तो यह अन्तिम किरण भी अब अस्त होने जा रही है।"

वह कराहती हुई कमरे से बाहर निकल गई और बाहर पड़ी चारपाई पर दोनों हाथों से मुँह ढाँप कर बैठ गई।

मुझे अपनी भूल पर पछतावा तो बहुत हुआ पर अब आश्वासन देने के सिवाय कर ही क्या सकता था। मैं कमरे से बाहर निकल उसके पास जा पहुँचा।

"परन्तु घबराने की कोई बात नहीं" मैंने कहना आरम्भ किया, "यदि ठीक राह पर चला जाय तो मुझे लड़के के स्वस्थ होने की पूरी आशा है।"

"सचमुच !" चेहरे पर पड़े हुए हाथों के पर्दों को अपने नेत्रों से

हटा कर अविश्वास-भरी दृष्टि से देखते हुए बुढ़िया बोली।

"तो बताइये राह।" जगतराम जो अब तक बाहर आ चुका था बोला, "क्या बहुत कठिन है ?"

"कठिन तो नहीं पर महँगा बहुत है। पहले तो जितनी जल्दी हो सके रोगी को किसी पहाड़ पर ले जाना होगा।"

"पहाड़ पर ?" बुढ़िया बीच में ही बोल उठी, "यह असंभव है।"

"कुछ असंभव नहीं।" जगत राम ने उसे रोक कर जरा उत्तेजित स्वर में कहा, "मैं एक दो दिन में ही इसका प्रबंध कर दूंगा।"

"तुम प्रबंध कर दोगे ?" बुढ़िया चारपाई से उठ कर आँगन में टहलने लगी, "कब तक प्रबंध किये जाओगे। अपने बच्चों का पेट काट कर कब तक अपने गाढ़े पसीने की कमाई इधर बहाये जाओगे। नहीं। कुछ भी हो अब इस अन्याय को रोकना ही होगा।"

"न्याय और अन्याय, उचित और अनुचित मैं तो आजतक इनके भेद को समझ नहीं पाया हूँ।"—जगत राम ने आरंभ किया।

इतने में रोगी के कमरे से एक क्षीण आवाज़ आई

"अम्मा" इसे सुनते ही बुढ़िया अन्दर भाग गई, पर जगत राम कहता चला गया, "डॉक्टर साहब जीवन की नीरसता और कटुता ने मेरे हृदय को इतना मसला है कि कोमलता और मधुरता के दो एक बिन्दुओं को छोड़ कर वह इस समय पत्थर से भी कठोर हो चुका है और उन बिन्दुओं को वहाँ अंकित करने वाली थी एक स्वर्गीय अप्सरा जो मेरी राह में पवन के झोंके की भाँति आई और चली गई। आज जीवन की घड़ियाँ केवल उसी की स्मृति के बल पर बिता रहा हूँ। यह रुग्ण बालक उसी देवी का स्मृति-चिह्न है। क्या इसको देखभाल करना मेरे लिये उचित नहीं ? आप ही बतायें इसमें कौन सा अन्याय है ?"

यह कह कर वह सहसा रुक गया। उसने आधा क्षण मेरी ओर देखा और बोला, "क्षमा कीजियेगा। जिह्वा की उतावली के कारण मैंने

अपनी राम कहानी से यूँ ही आपका अमूल्य समय नष्ट कर दिया। हाँ पहाड़ के अतिरिक्त और हमें क्या करना होगा ?"

"मैं कुछ दवाइयाँ लिखे देता हूं। उनका इसे निरंतर सेवन कराओ।"

"बस ?"

"और यदि हो सके तो एक अच्छी सी नर्स भी ठीक कर लो।"

"सब कुछ करूँगा और तब तक किये जाऊँगा जब तक धातु का एक टुकड़ा भी पास में होगा।" वह फिर जोश में आ गया, "पहाड़ कौन सा ठीक रहेगा ?"

"सोलन।" मैंने जवाब दिया और जेब से क़लम और कागज़ निकाल कर नुसखा लिखने लगा। इतने में बुढ़िया फिर बाहर आ गई। वह मुझे पूछने के लिये मुँह ही खोलने जा रही थी कि जगत राम बोल उठा। "मैंने सब बात समझ ली है। इन्हें अब अधिक कष्ट देने की कोई ज़रूरत नहीं।"

मै तब तक नुसखा लिख चुका था। उसे जगत राम के हाथ में देकर मैं उठ खड़ा हुआ।

"मै परसों इसे पहाड़ पर ले जाऊँगा। क्या कल आप फिर आने का कष्ट न उठाइयेगा ?" मेरे कोट की जेब में नोटों का एक छोटा सा पुलिन्दा डालते हुए जगत राम ने पूछा।

"बहुत अच्छा !" मैंने सीढ़ियाँ उतरते हुए जवाब दिया। मुझे क्या आपत्ति हो सकती थी।

४

एक डॉक्टर का अपने रोगियों के साथ वही निर्लेप संबंध होता है जो कमल के पत्तों का तालाब के जल से। जब तक रोगी के पास रहते हैं तब तक सब से निकट, पर रोगी-गृह से बाहर निकलते ही उनके मस्तिष्क में उस ग़रीब के लिए प्रायः ज़रा सा स्थान भी नहीं रहता। आख़िर इतने से मस्तिष्क में संसार भर की चिन्ताओं को भला कैसे बांधे फिरें। परन्तु

मनोविज्ञान के इस प्रसिद्ध सिद्धान्त को भी अब की बार मुँह की खानी पड़ी। आज जगत राम और उसके नन्हें रोगी को पहाड़ पर गये भी एक मास के करीब हो गया था पर न ही मुझे उस बालक की वह दुख भरी मुसकान भूली थी और न ही उस बुढ़िया की चमकती हुई आँखें। पर मुझे सब से अधिक परेशान कर रहे थे जगत राम और अतीत के आँचल में छिपी हुई उसकी प्रेम-कहानी। मालूम नहीं वह कैसा अद्भुत प्रेम था उसमें क्या जादू था। न मालूम मदन ने किस रस से सने शरों से उन दोनों के हृदयों को वेधा था कि आज माया-जाल का पुतला जगतराम भी इतना उग्र आदर्शवादी बन बैठा था। बात यहाँ तक बढ़ गई थी कि दो-पहरी की तंद्रा की आड़ में मेरी कल्पना ने कई बार उस बीते हुए प्रेम-नाटक को खेलने का प्रयास किया पर दो चार अतिरंजना-भरे चित्रों को अंकित करने के अतिरिक्त कुछ न कर सकी। कभी मुझे वह जगत राम और उसकी नैसर्गिक प्रेमिका को फूलों के अथाह सागर में जुगनुओं की झिलमिलाती ज्योति में एक दूसरे से उलझते हुए दिखा देती, कभी उन्हें चाँद की चाँदनी में नदी के किनारे शिला-खण्ड पर बैठे हुए नदी की लहरों के गीत में अपने हृदय में उठती हुई प्रेम-हिलोरों के संगीत को छेड़ते हुए झलका देती, और कभी बाहों में बाँहें डालकर सूरज की किरणों पर पृथ्वी और आकाश के मध्य में नृत्य करते हुए दिखला देती। सहसा आकाश में बादल छा जाते। सूर्य छिप जाता, किरणें सिमट जातीं और बेचारा जगत राम लुढ़कता हुआ पृथ्वी पर आ गिरता। पर उसकी प्रेमिका एक इन्द्र-धनुष के सहारे जो तब तक आकाश में बन चुका होता था, वहीं अटकी रहती। पर इसके आगे कल्पना कहीं भी न पहुँच पाती थी। इस लिये जब एक दिन मुझे सोलन से तार द्वारा जगत राम का बुलावा आ पहुँचा तो मैंने फौरन वहाँ जाने का निश्चय कर लिया। यद्यपि यहाँ काम बहुत था फिर भी मैंने उसी दिन यात्रा की तैयारी कर दी। शायद उस कवित्वमय वातावरण में जगत-राम अपनी रोमांस की कहानी उगल दे।

५

बल खाती, हांफती, दम लेती और यात्रियों को धुएँ से व्याकुल करती हुई बच्चा गाड़ी सी वह रेल गाड़ी सोलन की ओर बढ़ी जा रही थी और मुझे लिये जा रही थी उन दुखियों की विचित्र टोली में। दोनों ओर क्षितिज तक फैले हुए पर्वत और घाटियाँ अपने मध्य में से गुज़रते हुए उस मानविक खिलौने को देख कर मुसकराते से प्रतीत होते थे। चारों ओर लगे हुए चीड़ के वृक्ष और कहीं कहीं से सिर निकालते हुए जंगली पुष्पों के झुंड हवा के झोंकों द्वारा झूम रहे थे। बादलों के श्वेत और श्याम टुकड़े वन वृक्षों और फूलों के साथ टकराते हुए एक दूसरे के साथ उलझ रहे थे। कितनी मस्ती और आनन्द था उनकी उलझन में! कहाँ वह प्रकृति का हृदय-हारी सुन्दर और पीड़ा-रहित जगत और कहाँ मानव का दुःखों और वेदनाओं से भरा संसार जिसके कोने कोने में निराशा और चिन्ता घुसी बैठी है। जहाँ प्रसन्नता की आड़ में सदा कष्ट छिपा रहता है। क्या मनुष्य उड़ कर उस जगत में नहीं पहुँच सकता था? मनुष्य के साथ सृष्टिकर्ता ने इतना अन्याय क्यों किया। पर क्या सचमुच अन्याय किया! कौन जाने बादलों और फूलों की भी अपनी चिन्ताएँ हों, वेदनाएँ हों। उनके प्रेम में भी विरह हो। जी में तो आता था कि इस तर्क को मानूँ पर बादल के टुकड़ों की उस पागल बनाने वाली सुन्दरता में असुन्दरता दीखती ही न थी। मैं बहुत देर तक इस समस्या में फँसा रहा। यहाँ तक कि वृक्षों और फूलों से खेलने वाली पवन के झोंकों ने मुझ से भी छेड़-छाड़ आरम्भ कर दी। उनमें छिपी हुई मादकता ने दो ही क्षणों में मुझे परास्त कर दिया। मेरे लाख रोकने पर भी मेरी आँखें मुँद गईं और मेरा सिर बेंच की पीठ पर लुढ़क गया। कह नहीं सकता कितनी देर मैं इस अवस्था में पड़ा रहा कितने स्टेशन आये और चले गये। पर जब मेरी आँख खुली तो गाड़ी अपनी चाल धीमी करती हुई सोलन पर ठहरने जा रही थी। मेरे आँखें मलते मलते वह ठहर भी गई। मैंने उठ कर खिड़की

से बाहर झाँका। मलिन मुख लिये एक घिसा हुआ भूरा कंबल ओढ़े और अपने उत्सुक नेत्रों को गाड़ी पर गड़ाये जगतराम एक लैंप के खंभे से लगा खड़ा था। मुझे देख कर वह मेरी ओर भागा।

"क्यों क्या कष्ट है उसे ?" मैंने चिन्ता भरे स्वर में गाड़ी से उतरते हुए पूछा।

"निमोनिया" उसने रुंधे हुए गले से जवाब दिया।

"निमोनिया!" यह तो अनर्थ हो गया। तपेदिक के रोगी के लिए यह प्रायः घातक ही सिद्ध होता है। पर एक डॉक्टर इतना निराशा-वादी क्यों हो ? शायद उसका आक्रमण इतना तीखा न हो। यत्न करने से शायद अब भी वह अभागा बालक बच जाये। "कब से है ?"

"आज चौथा दिन है।"

"होश में तो है ?"

"नहीं ?"

इससे अधिक पूछना मैंने उचित न समझा। अपना सामान कुली के हवाले करके मैं जगतराम के साथ हो लिया। स्टेशन से कुछ ही दूरी पर चीड़ के वृक्षों से घिरे एक एकांत और सुन्दर बंगले में जगतराम ने अपनी रोगग्रस्त धरोहर को लाकर रखा था। हम दस ही मिनट में वहाँ पहुँच गये।

मकान के बाहर बरामदे में एक कंबल लपेटे आराम कुर्सी पर बुढ़िया पड़ी थी। चेहरे पर उदासी छाई हुई थी। आँखें सूज रहीं थीं। मुझे देख कर बैठे बैठे ही निराशा भरे क्षीण स्वर में बोली, "आप आ गये। बड़ी कृपा की। आप भी लगा लीजिये जोर।"

"आप घबराइये नहीं," मैंने ढाढ़स देते हुए कहा," ईश्वर ने चाहा तो सब ठीक हो जायगा।

"ठीक !" बुढ़िया ने मुझे ऐसे देखा मानों एक नौसिखिया बालक होऊँ। वेदना-भरी झूठी मुस्कान उसके होठों को छूकर लुप्त हो गई।

"बुढ़िया को वहीं छोड़ बरामदा पार करके हम रोगी के कमरे में जा पहुँचे। दरवाज़े से ज़रा हट कर रोगी की चारपाई थी। उसी पर आँखें मूंदे और बेसुध वह बालक पड़ा था। साँस तेज़ी से चल रहा था। उसके पास ही एक कुर्सी पर बैठी नर्स अंग्रेज़ी का एक प्रेम-उपन्यास पढ़ने में निमग्न थी, शायद स्वर्गीय गार्विस महोदय की कोई कृति थी। हमें देख कर वह झटपट उठ खड़ी हुई। किताब को बंद कर के कुर्सी पर रख दिया।

"ये लाहौर से डॉक्टर आये हैं।" जगत राम ने मेरा परिचय कराया।

"ज़रा चार्ट तो दिखलाना" मैंने पास वाली कुर्सी पर बैठते हुए [कहा। उसने चार्ट मेरे हाथ में दे दिया जिस से पता चला कि लड़के को चौथे दिन से लगातार १०४ और १०५ डिग्री के क़रीब ज्वर आ रहा था और नाड़ी की गति भी बहुत तीव्र थी। बाक़ी बातें भी कुछ विशेष संतोष-जनक न थीं। मैंने चार्ट पृथ्वी पर रख दिया और स्वयं बच्चे की परीक्षा करने लगा। जितनी मैं समझता था उसकी अवस्था उससे कहीं अधिक ख़राब थी। उसका शरीर अंगारे की भाँति जल रहा था। निमोनिया [डबल था। दोनों फेफड़े बहुत बुरी तरह से ग्रसित थे। उन्माद के चिह्न भी [साफ़ दीख रहे थे। ऐसी हालत में तो उसका वह रात काटना भी मुझे कठिन प्रतीत होता था।

"ज़रा नुसख़े तथा दवाइयाँ भी दिखाना।" मैंने नर्स से फिर प्रार्थना की। उसने सब चीज़ें पास पड़ी हुई तिपाई पर मेरे सम्मुख रख दीं। मैंने सबको ग़ौर से देखा। चिकित्सा ठीक रास्ते पर हो रही थी।

"अभी यही दवाइयाँ दिये जाओ" मैंने कहा और बाहर निकल आया। जगत राम मेरे पीछे था।

"बचा लेंगे न ?" जगत राम ने भरे हुए गले से पूछा। इतनी व्यथा, इतनी याचना थी उसके स्वर में कि मेरे जैसा कठोर हृदय डॉक्टर भी विकल हो उठा। ऐसी करुणाजनक और असामयिक मृत्यु को पछाड़ने के

लिये तो डॉक्टरों के पास संजीवनी बूटी जैसी कोई वस्तु अवश्य होनी चाहिये। मुझे अपने सीमित ज्ञान पर क्रोध तो बहुत आया पर कर ही क्या सकता था। अपने भावों को छिपा कर मैंने जवाब दिया, "हाँ यदि आज की रात निकल गई तो।"

बुढ़िया हम से कुछ ही अन्तर पर थी। मेरी आवाज़ सुन कर तीर की तरह सीधी खड़ी हो गई। कंबल को उतार कर कुर्सी पर फेंक दिया और मेरी ओर बढ़ती हुई बोली, "क्यों छिपा रहे हैं? साफ़ साफ़ क्यों नहीं बताते? यह क्यों नहीं कहते कि आज की रात बीतने से पहले वह पार हो जायगा।" यह कह कर वह जोर से रो पड़ी।

मैंने कुछ न कहा। ऐसी अवस्था में तो आश्वासन देते भी न बनता था। मैं चुपके से वहाँ से खिसक गया और रोगी के उपचार में जा लगा। रोगी की अवस्था क्षण प्रति क्षण बिगड़ती जा रही थी। कोई घंटे के अनंतर स्थानीय डॉक्टर महोदय भी आ गये। उनसे सलाह करके हम ने एकाध इंजैक्शन भी दे दिया। पर फल कुछ न निकला। हमारी सब की दौड़ धूप के बावजूद भी उसी रात बालक ने उस बुढ़िया—अपनी नानी की गोद में सदा के लिये आँखें मूद लीं।

जगत राम इस हृदय-विदारक दृश्य को देखने का साहस नहीं पकड़ सका था। इस लिये पिछले कोई बीस मिनट से बरामदे में आ कर बैठा आँसुओं द्वारा अपनी बढ़ी हुई दाढ़ी को भिगो रहा था। मुझे बाहर निकलते देख कर उठ बैठा और हिचकी ले कर बोला, "चल दिया?"

"हाँ।"

जगत राम ने कोई आधा क्षण काले बादलों में से झाँकते दो चार क्षीण ज्योति वाले तारों की ओर शून्य दृष्टि से देखा फिर उखड़े हुए स्वर में एक दीर्घ निश्वास छोड़ कर बोला, "तो यह है मेरी प्रेम-कहानी का अन्त।"

हाँ, अंत! पर उसकी कहानी का आरम्भ क्या था, कथानक क्या था यह उस समय उससे कौन पूछ सकता था।

छल ?

नरगिस की क्यारी में कुछ नए फूल खिले थे। उनकी मधुर-मादक गन्ध अपनी अलग सत्ता लिए हुए वाटिका में इधर-उधर लहराते दूसरे फूल-पौधों के साथ छेड़-छाड़ करती हुई बिखर रही थी। सूर्य की कुछ रश्मियाँ मानों आँख बचाकर उन सुनहले-रूपहले फूलों के साथ खेल रही थीं। मैं यही सब-कुछ देखने में तन्मय था कि मेरे ऊपर किसी मनुष्य की छाया पड़ी। मैं चौंक पड़ा और मुड़कर पीछे देखा।

'मुझे पहचानते हो ?'—नवागन्तुक ने मुझे अपनी छोटी-छोटी आँखों से चीरते हुए पूछा।

'तुम्हें ?'—मैंने उसे सिर से पाँव तक देखते हुए कहा। चमचमाते पेटेंट लेदर के जूते, सिल्क के मोजे, गहरे नीले रंग का सूट, बड़ी-बड़ी सुनहली तितलियों से छाई हुई नीली नेकटाई और ब्रिलक्रीम द्वारा सँवारे हुए लम्बे बाल। मैंने सोचा—क्या यह मनोज तो नहीं है, जो कालेज के दिनों में भिखारियों की पंक्ति कभी छोड़ नहीं पाया था ? अभी दो वर्ष पहले जो एक रुपया पाने के लिए मेरे यहाँ पाँच मील चलकर आया था। मैं विस्मित स्वर में बोला—'यदि कोई दो वर्ष में रंक से राजा हो सकता है, तो तुम मनोज हो !'

'बहुत खूब ! और सचमुच मैं इस समय राजा हूँ। टूटे हुए जूतों और फटे हुए वस्त्रों का जीवन सुदूर अतीत के एक कोने में सदा के लिए छिपा आया हूँ।'—मनोज ने कहा।

मैंने उसके कीकर के छिलके-से ऊबड़ खाबड़ चेहरे को—जिसे पश्चिमी प्रसाधनों द्वारा ठीक-ठाक करने का विफल प्रयत्न किया गया था—गौर से देखा और आश्चर्य से पूछा—'लेकिन यह कायापलट हुई कैसे ?'

'यह सब-कुछ जादू से नहीं हुआ, बल्कि इस अद्भुत मस्तिष्क की करामात है।'—अपनी तर्जनी द्वारा अपना ललाट छूते हुए उसने

जवाब दिया—'जिस रुपए के लिए कभी तुम्हारे-जैसे लोगों के आगे हाथ पसारना पड़ता था, उसे मैं अब फूँक सकता हूँ, फूँक !'

'इतने न उड़ो ।'—मैंने ज़रा मुस्कराते हुए कहा—'जिस शेयर-मार्केट ने तुम्हें बनाया है, वह बरबाद भी कर सकता है, यह न भूलो ।'

'शेयर-मार्केट !'—वह अपने होंठों को बल देकर ज़रा मुस्कराया और बोला—'तुम भी पागलों की-सी बातें करते हो, नरेश भैया !' यह कहकर वह चुप हो गया। कुछ देर इधर-उधर टहला। उड़ती हुई दृष्टि से वाटिका में खिले हुए फूलों को एक बार देखा, फिर लान में पड़ी हुई कुर्सियों की ओर देखने लगा। कुछ क्षण बाद वह आगे बढ़ा और पास ही पड़ी हुई एक आरामकुर्सी पर बैठते हुए गम्भीर स्वर में बोला—'तुम शायद यह समझते होगे कि इस धन-दौलत से मैं आनन्द-विभोर हो उठा हूँ; पर बात ऐसी नहीं है। मेरे हृदय में सदा एक बेचैनी छाई रहती है। रातें बड़ी बेचैनी से तड़पकर काटता हूँ ।'

'इसका तो सीधा इलाज है ।'

'क्या ?'

'विवाह ?'

'विवाह ? असम्भव !'

'असम्भव क्यों ?'

'क्योंकि मेरे निकट नारी एक भोग-सामग्री नहीं है',—मनोज एक-एक शब्द पर इस तरह जोर देता हुआ कहने लगा, मानो कोई पुस्तक पढ़ रहा हो—'बल्कि पूजनीय देवी है, महान श्रद्धा की वस्तु है ।'

मैं ठहाका मार कर हँसा और बोला—'पड़ गई हो जो आदत बचपन में, वह दूर भला कब होती है ? मालूम होता है, अब शेक्सपियर से मन ऊब गया है। आजकल किस लेखक की छीछालेदर कर रहे हो ? सच बताओ, ये वाक्य तुमने किस पुस्तक से उड़ाए हैं ?'

'पुस्तक से,'—वह किंचित उत्तेजित होकर कुर्सी से उठ खड़ा हुआ

और बोला—'यह भी खूब रही ! अच्छा बोलो, सिगरेट पियोगे ?'

'नहीं।'—मैंने कहा।

उसने जेब से एक सुनहला सिगरेट-केस निकाला। सिगरेट-केस के साथ ही दो-चार सौ-सौ के नोट भी उसके हाथ में आ गए। ज़रा तिरछी नज़र से मेरी ओर देखते हुए उसने लापरवाही से उन्हें जेब में रखा और सिगरेट-केस में से एक सिगरेट निकालकर सुलगाया। फिर उसे होंठों के एक कोने में दबाकर बोला—'लो, अब चलता हूँ।'

'इतनी जल्दी ही ?'

'हाँ।'

हीरे की तीन-चार अँगूठियाँ प्रदर्शित करते हुए दोनों हाथ जोड़कर मनोज ने मुझे नमस्कार किया और जिस राह आया था, द्रुत गति से उसी राह से लौट गया।

२

मनोज के चले जाने पर मैं ज्यों का त्यों खड़ा रहा। अब तक धूप चारों ओर फैल चुकी थी। आध क्षण मैंने उसकी ओर देखा, फिर मेरे विचार मुझे मनोज की ओर खींच ले चले।

आज से २० वर्ष पहले मुझ से उसका साक्षात्कार हुआ था। मुझे खूब याद है वह दिन, जब फटा हुआ पाजामा और कमीज़, टूटा हुआ जूता और चमचमाती लाल मखमल की नई टोपी पहने उसने क्लास-रूम में प्रवेश किया था। उसका यह विचित्र लिबास देखकर सब के सब विद्यार्थी खिलखिलाकर हँस पड़े थे, पर मनोज अविचलित रहा—ज़रा भी नहीं घबराया। उसने अपनी टोपी उतार एक बार ध्यान से उसकी ओर देखा, फिर अपने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। मेरे पासवाला स्थान खाली था। वह चुपके से आकर वहाँ बैठ गया और मुस्कराकर मुझे नमस्कार किया। उसी दिन से हम दोनों मैत्री-बन्धन में बँध गए।

आज २० वर्ष के बाद फिर उसी नाटकीय ढंग से उस ने प्रवेश किया

था और वही मयूर-वृत्ति दिखाई थी। उस दिन उसने अपने फटे हुए कुर्त्ते और टूटे हुए जूते को उस मखमली टोपी से छिपाने का विफल प्रयत्न किया था। और आज? कौन जाने इस भड़कीली पोशाक द्वारा अपने टूटे हुए हृदय को छिपाने का प्रयत्न कर रहा हो? टूटा हुआ हृदय! लेकिन क्यों? यद्यपि उसने इस बात की कभी किसी से शिकायत नहीं की थी; पर कौन जाने हृदय पर कहीं चोट खा ही बैठा हो।

'क्या हो रहा है, भैया?'—शैल ने आकर मुझे चौंका दिया।

'आओ शैल! कहाँ से आ रही हो?'

'बाज़ार से कुछ चीज़ें खरीदने को निकली थी। सोचा, ज़रा इधर भी होती चलूँ। कहिए, क्या हो रहा है?'

'कुछ खास तो नहीं। कल्पना के आवरण में एक कुरूपता को सौंदर्य प्रदान करने की कोशिश कर रहा था।'

'क्या मतलब?'

'क्या इधर आते समय कोठी से निकलते हुए तुमने किसी आदमी को नहीं देखा?'

'हाँ, एक बड़े सजे-धजे महानुभाव अपनी ही धुन में मस्त बाहर जाते हुए दिखे तो ज़रूर थे। क्यों, क्या बात है?'

'जानती हो, वह कौन था?'

'नहीं। कौन था वह?'

'मनोज।'

'मनोज!'

'हाँ, वही था।'—मैंने कहा। शैल मुझ से दो वर्ष छोटी थी। कालेज में हम दोनों लगभग साथ ही रहते थे, अतः शैल मनोज को अच्छी तरह जानती थी।

किंचित् आश्चर्य से उसने कहा—'लेकिन मैं तो उसे पहचान ही नहीं सकी। पर सौन्दर्य और कुरूपता से उसका सम्बन्ध?'

'मैं यह सोच रहा था कि शायद वे भड़कीले वस्त्र उसने अपने टूटे हुए हृदय को छिपाने के लिए धारण किए हों।'

'मनोज और टूटा हुआ हृदय!' शैल खिलखिलाकर हँस पड़ी। बोली—'भैया, आप जीवन में छायावाद लाने का प्रयत्न क्यों कर रहे हैं? उसे तो हिन्दी-कविता के लिए ही रहने दीजिए।'

'शैल, यह तुम क्या कह रही हो?'

'मैं ठीक ही कह रही हूँ, भैया! मनोज स्वभावत: एक अभिनेता है। पहले दिन क्लास-रूम में वह फटे हुए कपड़े और मखमली टोपी दरिद्रता के कारण नहीं, बल्कि अपनी नाटकीय प्रवृत्ति के कारण ही पहनकर आया था। और आज की उसकी वेश-भूषा भी उसी प्रवृत्ति की परिचायिका है। खैर, छोड़िए भी इन बातों को।' एक क्षण रुककर वह बोली—'अब देर हो रही है, भाभीजी से भी मिल आऊँ।'

यह कहकर वह दूसरी ओर चली गई।

३

इसके बाद न जाने कितने दिनों तक मनोज के रहस्यमय व्यक्तित्व ने मेरे भावों से छेड़-छाड़ की। पर शनै:-शनै: उसका चित्र स्मृति-पटल पर धुँधला होता जाने लगा—यहाँ तक कि जब कोई दो वर्ष बाद एक दिन फिर वह मेरे सामने आकर खड़ा हुआ, तो मैं उसे भूल-सा चुका था।

कलकत्ते के दक्षिण में एक झील है। एक दिन सूर्यास्त के समय उसी के किनारे एक बेंच पर बैठा हुआ मैं लताओं में उलझे कुछ वृक्षों के पीछे अस्त होते हुए सूर्य की आभा देखने में तन्मय था। घूमनेवालों के दल के दल इस हृदयहारी दृश्य से पीठ मोड़कर अपनी बढ़ती हुई तोंद को घटाने के विफल प्रयत्न में खट-खट करते हुए मेरे पास से तेजी से जैसे उड़े चले जा रहे थे। पर मैं इन सब से बेखबर उस सुनहले गोले को रक्त-वर्ण में परिवर्त्तित हो चारों ओर अपना सौन्दर्य फैलाकर धीरे-धीरे अदृश्य होते हुए देख रहा था। इसी समय अचानक किसी ने मेरे कन्धे पर हाथ रखा।

मैंने चौंक कर पीछे देखा और आश्चर्य से पूछा—'तुम ?'

'हाँ, मैं।'—कहकर मनोज मेरे पास बेंच पर बैठ गया और अपने कोट की जेब से एक बीड़ी और दियासलाई निकाली। बीड़ी सुलगाकर उस ने दियासलाई वापस जेब में रख ली।

मैंने सिर से पाँव तक उसे देखा। आज फिर वही टूटा हुआ जूता था, फटी हुई धोती, पुराना कुर्त्ता, घिसा हुआ कोट और अँगूठी-रहित अँगुलियाँ! केश उसके रूखे और बिखरे हुए थे। मेरे निरीक्षण की कुछ भी परवाह न कर वह उस दमड़ी की बीड़ी के कश खींचने लगा।

'आखिर वही हुआ न ?'—मैंने ज़रा व्यंग्य से कहा।

'क्या ?'

'जिसकी मैंने तुम्हें चेतावनी दी थी।'

'चेतावनी ?'

'हाँ भूल गए क्या—वही शेयर-मार्केटवाली बात ?'

'शेयर-मार्केट !'—वह ज़ोर से हँसा और फिर बोला—'मनोज शेयर-मार्केट से ऊँचा—बहुत ऊँचा—उठ चुका है।' यह कहकर उस ने कोट के अन्दर की जेब में हाथ डाला और नोटों का एक बंडल निकालकर बेंच पर पटकता हुआ बोला—'यह देखो !'

सचमुच नोटों का बंडल देखकर मैं अवाक् रह गया और बोला—'तब फिर इन सब के होते हुए भी तुम इस तरह फटे हाल क्यों फिर रहे हो ?'

'क्यों फिर रहा हूँ ?'—मनोज ने आधा क्षण झील में उछलती-कूदती-मछलियों को देखा, फिर एक आह भरकर बोला—'इसलिए कि मैं अपने-आप को धोखा नहीं दे सकता। मैं अपने-आप को भीतर-बाहर से एक रूप में देखना चाहता हूँ। टूटे हुए हृदय पर फटे हुए वस्त्र ही शोभा देते हैं।'

'टूटा हुआ हृदय !'—मैं उछल पड़ा। आखिर मैं भूल नहीं कर रहा था। मैंने पूछा—'इसका क्या मतलब ?'

'मतलब ?'—मनोज उठकर खड़ा हो गया। दो-चार क़दम इधर-उधर टहलकर वह फिर बेंच पर आ बैठा और बोला—'आज तुम से कुछ न छुपाऊँगा। अच्छा, लो सुनो।'

'बहुत अच्छा।'—मैं प्रसन्नता से बोला।

४

'होश सँभालते ही'—जेब से एक और बीड़ी निकालकर उसे सुलगाते हुए मनोज ने कहना आरम्भ किया—'मैं स्वप्न देखने लगा था। शुरू से ही नारी के प्रति मेरे हृदय में असीम श्रद्धा का भाव रहा है। मेरा सब से महान स्वप्न यही था कि मुझे एक ऐसी देवी मिले, जो वासना से निर्लिप्त हो और जिसकी पूजा करते हुए मैं अघाऊँ नहीं। एक दिन सौभाग्य से मेरा यह स्वप्न यथार्थता में परिणत भी हो गया।'

'तो क्या तुम्हें ऐसी नारी मिल गई ?'

'हाँ, वह नारी नहीं, देवी थी। ओस-सी निर्मल, गौरीशंकर के हिम-सी पवित्र, श्वेत कमल-सी कोमल और लावण्यमयी तथा आँसू-सी सत्य।'

'आज तो खूब कवित्वमय भाषा में उलझते जा रहे हो।'

मनोज ने मेरे इस कथन की कोई परवाह नहीं की और कहता चला गया—'आरम्भ में तो मैं उसे मन ही मन नमस्कार कर लिया करता था; पर धीरे-धीरे उसके निकट जाने का साहस भी मुझ में आने लगा। अंततः वह मेरे आदर्शवाद से चमत्कृत हुई और उसकी मुझ पर कृपा हो गई। इस पर मेरी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। छाया की तरह मैं उसके आगे-पीछे चक्कर काटने लगा। उन दिनों मैं किस अनूठे लोक में विचरण कर रहा था, तुम्हें क्या बताऊँ ? किन्तु एक दिन सब छूमन्तर हो गया।'

'वह कैसे ?'

'वह घटना भी इसी झील के किनारे घटी थी। उस पार वह सामने वाली बेंच देख रहे हो, जिस पर एक नारी और एक पुरुष बैठे हैं।'

'हाँ।'

'ठीक इसी तरह उस रात उसी बेंच पर हम दोनों भी बैठे थे। पूर्णिमा के चाँद की चाँदनी तारों से खेलती हुई झील की लहरों पर थिरक रही थी। वृक्षों से अठखेलियाँ करती हुई मन्द-मन्द हवा हमारी देहों को छूती हुई बह रही थी। बहुत दूर कोई बाँस की बाँसुरी द्वारा मधुर तानें छेड़ रहा था। कुछ देर तक वह देवी चाँद की ओर देखती रही पवन के स्पर्श को अनुभव करती रही और बाँसुरी की तान को सुनती रही। फिर एकाएक वह उठ खड़ी हुई और आवेश में बोली—'यह सब छल है!'

'क्या?'—मैंने ज़रा डरते-डरते पूछा।

'तुम्हारा आदर्शवाद!'—वह दाँत पीसती हुई बोली—'इसका सुनहला माया-जाल मेरे चारों ओर फैलाकर तुम मुझे हृदय हीन पत्थर की देवी बना रहे हो।'

'पर ज़रा यह तो देखो कि इस में महानता कितनी है?'

'महानता? मनुष्यता खो कर महान बनने से क्या लाभ? तुम महानता के लिए भटकते फिरो। मैं तो आज से सीधी-सादे मानवता के पथ पर चलूँगी।'

'यह कह मुझे अवाक्-सा छोड़ कर वह तेज़ी से भागती हुई चली गई।'

'क्या फिर कभी भी उससे तुम्हारी भेंट नहीं हुई?' मैंने ज़रा उत्सुकता से पूछा।

'कई बार हुई; किन्तु पथ-भ्रान्त पथिक मेरे अब किस काम का?'—उसने एक दीर्घ निश्वास छोड़कर कहा।

'खैर, कुछ भी हो, मेरा अनुमान तो ठीक निकला।' मैं अपनी क्षुद्र विजय को मनोज की दुःखान्त कहानी के बाद भी छिपा न सका। फिर मैंने मनोज से कहा—'अभी जा कर शैल को समझाता हूँ कि तुम्हारे बारे में उसकी धारणा बिल्कुल ग़लत है।'

'क्या है उसकी धारणा मेरे बारे में ?'

'उसका खयाल है कि तुम्हारी बातें तथ्यहीन हुआ करती हैं और तुम स्वभावतः एक अभिनेता हो ।'

'अभिनेता ! बहुत खूब !'—मनोज मुस्कराया और बोला—'कौन जाने, उसका खयाल ही ठीक हो; किन्तु कहीं उसे मेरी कहानी सुनाने की भूल मत कर बैठना ।'

'भूल ! क्यों ?'—मैं आश्चर्य से उसकी ओर ताकने लगा ।

उसने मेरे प्रश्नका कोई उत्तर नहीं दिया । चुपके से उठा और चारों ओर फैले हुए जन-समूह में मिलकर देखते ही देखते मेरी आँखों से ओझल हो गया ।

प्रमदा और प्रमोद

१

टूटे-फूटे कमरे के एक कोने में मैली-सी चटाई पर बैठी वह आँसू भरे नेत्रों से एक चित्र देख रही थी । समय ने और उसके आँसुओं ने उस चित्र को बहुत कुछ फीका कर दिया था, परन्तु उसे मिटा न सके थे । चित्रित व्यक्ति की बड़ी-बड़ी स्नेह-भरी आँखें, तीखी नाक, कोमल होंठ तथा प्रबल ठुड्डी अब भी साफ़ दृष्टिगोचर हो रही थी । उस चित्र के साथ एकान्त में वह कितना रो चुकी थी, कितना हँस चुकी थी, यही बैठी वह सोच रही थी कि किसी ने द्वार खोला । सामने उसकी नई पड़ोसिन रामेश्वरी, जिससे हाल ही में उसकी जान-पहचान हुई थी, खड़ी थी ।

"आओ बहन ! बड़ी कृपा की ।"—प्रमदा ने कहा ।

रामेश्वरी द्वार पार करके उसके साथ हो ली और दोनों चटाई पर आ बैठीं । उनके पास ही चित्र पड़ा था । रामेश्वरी की दृष्टि अनायास

उस पर पड़ गई। उठा कर देखती हुई पूछने लगी—यह किसका चित्र है?

"मेरे भाई का।"—प्रमदा ने जवाब दिया।

"बहुत पुराना मालूम देता है। आज कल ये कहाँ हैं?"

"कहाँ हैं? हैं भी या नहीं, इसका कुछ पता नहीं।"—प्रमदा का गला भर आया—"पिछले पन्द्रह वर्षों से ये नेत्र इनको देखने के लिए तरस रहे हैं।"

"परन्तु वे गये कहाँ थे?"—रामेश्वरी ने सहानुभूति-सूचक स्वर में प्रश्न किया।

"यदि यही पता लग जाय तो फिर बात ही क्या है?"

"क्या छिप कर गये थे?"

"हाँ।"

"परन्तु क्यों?"

"मुझ अभागिन को सुखी करने के लिये।"—उसने व्यंग की हँसी हँस कर कहा।

"अच्छा! परन्तु झगड़ा क्या था?"

"झगड़ा?"—प्रमदा ने जरा आश्चर्य से अपनी पड़ोसिन की ओर देखा—"झगड़ा कोई नहीं था। यह तो एक उच्च तथा कोमल हृदय का प्रेम-प्रदर्शन था।"

"प्रेम-प्रदर्शन? इसके लिये रास्ता खूब अद्भुत चुना गया।"

"अद्भुत था भी और नहीं भी।"—प्रमदा ने एक सर्द आह लेकर कहा—"यदि तुम सारी कहानी सुन लो तो शायद इसमें तुम्हें इतना अनोखापन न दीखे।"

"तो सुनाओ"—रामेश्वरी ने उत्सुकता से व्यग्र होकर कहा।

प्रमदा ने एक पुरानी सी तिपाई पर पड़े हुए जापानी टाइमपीस की ओर देखा। दो बजे थे। उसके पति को दफ्तर से लौटने में अभी काफ़ी देर थी, इसलिए वह बिना किसी आपत्ति के सुनाने के लिए तैयार हो गई।

बोली, "सुनो।"

२

"सुना था कड़कती हुई बिजली और गर्जते हुए बादलों मे" उसने कहना आरंभ किया—"एक लेडी डाक्टर तथा दो नर्सों की सहायता से हम दोनों ने चिल्लाते हुए, इस संसार में आँखें खोली थीं। मैं कोई पन्द्रह-बीस मिनिट बड़ी थी और मेरा भाई छोटा। माँ को तो होश न था, पर मेरे पिता उस समय कोठी के बरामदे में ज़रा बेचैनी से टहल रहे थे। खबर सुन कर भागते हुए अन्दर आये। फूल के समान कोमल तथा सुन्दर अपने दो प्रतिरूपों को देख कर वे आनन्द से विह्वल हो उठे। चारपाई पर झुककर बार-बार हमें चूमते हुए नहीं अघाते थे।"

"बालक का जन्म भी कितना लुभावना होता है।"—रामेश्वरी ने कहा और पूछा—"तुम्हारी कोठी कहाँ थी ?"

"कोठी ? क्या पूछती हो ? उस ओर से तो गुज़रते हुए भी हृदय फट जाता है"—प्रमदा ने जवाब दिया—"आज तो वहाँ और भी बहुत अच्छी-अच्छी कोठियाँ हैं, परंतु उन दिनों हमारी कोठी के बहुत दूर इधर-उधर एक भी वैसी कोठी न थी। आपने अवश्य देखी होगी। फिरोज़पुर रोड के गिर्जे के ठीक सामने है।"

"वह पीली सी बड़ी कोठी तो नहीं ?"—उसने ज़रा आश्चर्य से पूछा।

"हाँ वही"—प्रमदा एक ठंढा साँस लेकर कहने लगी—"मेरे पिता ने वह कोठी कितने चाव से बनाई थी, आप को क्या बताऊँ परन्तु समय के हेर-फेर से उसे इधर से उधर होते देर न लगी। खैर उस समय मेरे पिता रेलवे के एक बहुत बड़े ठेकेदार थे। पानी की भाँति रुपया घर में आता था और पानी की भाँति ही बहाया जाता था। हम दोनों के लिए अलग-अलग आया रखी गई। बाग़ में दोनों के लिए अलग-अलग झूले डलवाये गये, और शाम की सैर के लिए एक-एक बच्चा-गाड़ी के अतिरिक्त

एक मोटर केवल हम दोनों के लिए खरीदी गई। हमारे वस्त्र "पिटमैन" अथवा "रैंकन" की दुकान से बना करते थे, खिलौने विलायत से आते थे और आमोद-प्रमोद की कोई सामग्री ऐसी न थी जिसकी हमें कमी हो। हम उस सुनहले आकाश के पक्षी थे जो कवियों के काल्पनिक स्वर्ग का एक आवश्यक अंग होता है, जहाँ स्वच्छन्दता और आनन्द एक दूसरे से होड़ करते हैं। इसी भाँति लगभग बारह वर्ष बीत गये। एक दिन सहसा वह सब कुछ छू मंतर हो गया।"

"मुझे ठीक याद है"—प्रमदा ज़रा रुक कर फिर कहने लगी "उस दिन सोमवार था। दोपहर के ग्यारह बजे थे। मैं अभी स्कूल से लौटी ही थी। मोटर से उतर कर अपने कमरे की ओर जाने लगी तो पास वाले कमरे से पिता की आवाज़ आई। यह ज़रा आश्चर्य की बात थी। क्योंकि हमारे पिता शाम को पाँच बजे से पहले कभी घर नहीं आया करते थे। मैं ज़रा उत्सुकता से उस कमरे में घुस गई। वहाँ का दृश्य देखकर मैं डर गई। मेरी माता कमरे के एक कोने में खड़ी रो रही थीं। पिता उनके निकट खड़े कोमल परन्तु भर्राये हुए स्वर में ढाढस देने की कोशिश कर रहे थे।"

"क्या बात है?"—मैंने माता से सहमे हुए स्वर में पूछा।

"कुछ भी नहीं।"—माता ने झटपट आँसू पोंछे।

"पर आप रो क्यों रही हैं?"

माता ने कुछ जवाब न दिया, परन्तु पिता की ओर देखने लगीं। मानो उनसे कह रही हों कि मुझे इस लड़की के प्रश्नों से बचाओ। मेरे पिता ने मुसकरा कर मुझे अपनी ओर खींच लिया और झूठी हँसी हँस कर बोले—"पगली है, इसलिए रो रही है। तुम्हीं बताओ ईंटों तथा मिट्टी के ढेर से ममता लगाने में लाभ ही क्या है?"

"परन्तु फिर भी बात क्या है?"—मैंने ज़रा व्यग्रता से पूछा।

"यही कि हम कल हम दूसरे मकान में जा रहे हैं। जाओ अब कुछ जलपान करो। सुबह की भूखी हो।"—यह कहते-कहते मेरे पिता ने मुझे

कमरे से बाहर धकेल दिया। मेरे मन में कितने ही प्रश्न उठे परन्तु जिह्वा पर नाच कर रह गये। मैं चुपके से अपने कमरे की ओर चल दी।

"परन्तु आपने कोठी छोड़ी क्यों?"—रामेश्वरी ने प्रश्न किया।

"निरन्तर घाटे पर घाटा खाने के कारण"—प्रमदा कहने लगी—"इस आशा में कि वे उखड़े हुए पग सँभाल लेंगे मेरे पिता ने बाहरी आडंबरों में कमी न आने दी। परन्तु वे ऐसी फिसलनी धरती पर चल रहे थे जहाँ एक पग जमाना भी असंभव था। फल यह निकला कि कुछ ही देर के बाद ऋण तथा घाटे से पिस कर मेरे पिता को कोठी छोड़ने पर विवश होना पड़ा।"

"विधि के विधान ने ऋषि-मुनियों तक को न छोड़ा"—रामेश्वरी बीच में ही बोल उठी।

"विधि का विधान भी कितना टेढ़ा है।"—प्रमदा ने ज़रा कटु-स्वर में जवाब दिया—"खैर, उपर्युक्त घटना के एक सप्ताह बाद हम चार छोटे-छोटे कमरों वाले एक नये मकान में आगये। मोटरें सब बेच दी गईं, एक नौकर के अतिरिक्त सब को जवाब मिल गया। भोग-विलास के सब सामान हवा हो गये। हमने ऐसा अनुभव किया मानो स्वर्ग की हरी-भरी फुलवारी—जहाँ पवन भी आनंद के हिलोरें लेती थी—से निकल कर नरक के एक अँधेरे कोने में आ पड़े हैं। इसलिए आरंभ में तो सब को बहुत कष्ट हुआ, परंतु कुछ काल के अनंतर हमारे पिता शायद पुरुष होने के कारण और हम दोनों भाई-बहन शायद बच्चे होने के कारण परिस्थिति पर विजय पा गये। परंतु हमारी माता इस धक्के से न सँभल सकीं। नये मकान में आते ही वे उदास और चिंता-मग्न रहने लगीं और कुछ ही दिनों में उन्हें हलका-हलका ज्वर आने लगा। इस बीमारी ने हमारी स्थिति को और भी शोचनीय बना दिया। थोड़े ही दिनों में उस छोटे से मकान को छोड़ कर बाक़ी बचा-खुचा भी चुक गया। अब गुज़ारा और भी कठिन हो गया। पिता ने कई बार मकान बेचने की सोची, परन्तु हमारी माता न

मानीं। खर्च को घटा-बढ़ा कर उन्होंने एक वर्ष और भी बिता ही दिया। तब तक हमारी अवस्था कुछ-कुछ सुधरने लग गई थी, पिता की आय खर्च की नई बाँधी हुई लकीरों से टक्कर लेने लगी थी। मकान के बिकने की चिंता जाती रही।"

"क्या आपकी माता ठीक हो गई?"—रामेश्वरी ने ज़रा उत्सुकता से पूछा।

"ठीक कहाँ? चारपाई से लगे हुए भी कभी अच्छे हुए हैं? हाँ, यह अवश्य हुआ कि मास में आठ दस दिन चारपाई से उनका पीछा छूट जाता था।"—यह कहते-कहते प्रमदा रुक गई। नेत्र सामने दीवार पर जा लगे। मानो उस मिट्टी और चूने की मैली दीवार पर अपनी अभिमानिनी तथा कोमलांगिनी माता का रोग-ग्रस्त कृश शरीर तथा मुसकराते हुए होंठों का चित्र ढूँढ रही हो।

३

सहसा चौंक कर वह फिर कहने लगी—"इस भाँति चार वर्ष और बीत गये। मेरा भाई उन दिनों कालिज के पहले साल में पढ़ रहा था। एंट्रेंस तो हम दोनों ने इकट्ठा ही पास किया था, परन्तु इसके अनंतर मेरी पढ़ाई छुड़वा दी गई। क्योंकि उनकी सम्मति के अनुसार मैं विवाह के योग्य हो चुकी थी। मेरे लिए वर की तलाश होने लगी। पिता जी इधर-उधर मारे-मारे फिरने लगे। महीने में कई-कई दिन चक्कर काटने पर भी भी कहीं सफल न होते थे। जाते और निराश होकर लौट आते थे। क्योंकि अच्छे लड़के वालों के मिज़ाज बहुत चढ़े हुए थे। यद्यपि खुल कर तो शायद कोई भी, कुछ न कहता था, परन्तु बातों-बातों में सभी अपने 'लाल' का दाम माँगते थे।

"क्यों?" इसी तरह एक दिन जब पिता वर की तलाश से लौटे तो मेरी माता ने उत्सुक परन्तु निराश स्वर में चारपाई पर लेटे-लेटे पूछा।

"जब हाथ में रुपयों की थैली पकड़ कर जाऊँगा तभी काम

बनेगा।"—पिता ने सूखी हँसी हँस कर कहा।

"यह युग स्वर्ण के लिए पागल क्यों हो उठा है। क्या उस चमकते हुए पीले द्रव्य के सिवाय कोई भी गुण इस संसार की दृष्टि में नहीं जँच सकता?"—तकिये से सिर उठाते हुए मेरी माता ने जरा जोश से कहा। बीमारी के कारण थकी हुई उनकी बड़ी-बड़ी आँखें प्रज्वलित हो उठीं—"मेरे खयाल में एक ऊँची रास का हीरा भी इस संसार को सोने की डिबिया में रख कर दिये जाने पर ही स्वीकृत होगा। अन्यथा उसे यह कीचड़ में फेंक देगा। उफ, कितनी मूर्खता है, कितना अन्धेर है!"

"तो फिर क्या किया जाय?"

"इस मकान को बेच डालो। किसी फूस की झोंपड़ी में रह लेंगे।" मेरी माता पूरी तरह उन्मत्त हो चुकी थीं।

"यदि मकान बेच डाला तो लड़का घर-घर भीख माँगेगा।"

"और यदि न बेचा तो लड़की घर-घर चक्की पीसेगी।" मेरी माता ने विष से बुझे हुए स्वर में कहा। इसके आगे वह कुछ न कह सकीं। थक कर तकिये पर गिर गईं और सिसकियाँ भर कर रोने लगीं।"

"हम दोनों भाई-बहन साथ वाले कमरे में बैठे अपनी इच्छा के विरुद्ध भी यह सब कुछ सुन रहे थे, सब कुछ देख रहे थे। माता के अंतिम वाक्य ने हम दोनों को विकल कर दिया। मेरा भाई उठकर लंबे-लंबे डग भरता हुआ कमरे में इधर-उधर उतावली से चलने लगा। लगभग पाँच मिनिट के अनंतर वह रुका और मेरी ओर देख कर निश्चयात्मक परन्तु रुँधे हुए स्वर में बोला—"इस जरा सी ममता ने इनको दुविधा में डाल दिया है। प्रमदा, घबराओ मत, सब ठीक हो जायगा। मैं ऐसे-ऐसे कई मकान तुम पर निछावर कर सकता हूँ।"

"मैं कुर्सी के एक कोने में सहमी हुई बैठी थी। उस कोमल मूर्ति के गोरे तथा भोले मुख पर दृढ़ता का भाव देख कर सब कुछ न समझती हुई भी मैं काँप उठी। क्या जाने उसने क्या निश्चय किया था। परन्तु उस

समय उससे पूछने का साहस ही कहाँ था ? क्षीण तथा करुणा भरी आवाज़ में कठिनता से केवल एक बार "भाई" कह सकी। मेरी आवाज़ सुन कर वह आँसू रोकता हुआ मेरे निकट आ गया और अत्यंत प्यार से मेरी पीठ पर हाथ फेरने लगा, मेरे बालों को सहलाने लगा। आह, आज इतने वर्षों के अनंतर भी जब ज़रा आँख झपकती है तो उसी स्नेह भरे हाथ को उसी भाँति पीठ पर फिरते हुए और बालों से उलझते हुए पाती हूँ।"

यह कहते कहते प्रमदा रो पड़ी। आँसुओं का वेग सँभाले नहीं सँभला।

रामेश्वरी इस भावुकता को देखकर थोड़ी विस्मित परन्तु मुग्ध हो गई। इतने वर्षों तक हृदय के घाव को सींचने वाली उस अद्भुत देवी के प्रति उसका मन श्रद्धा से परिपूर्ण हो गया। बोली—बहन, तुम धन्य हो।

प्रमदा ने कुछ जवाब न दिया। अपने अतीत के भावों में वह इस भाँति बह रही थी कि रामेश्वरी का सीधा सा वाक्य सुन कर भी समझ न पाई। पूछने लगी—क्या कहा था आपने बहन ?

"आपकी भावुकता की प्रशंसा कर रही थी।"

"भावुकता की प्रशंसा ?"—प्रमदा ने व्यंग्य भरे स्वर में कहा—"मैं तो भावुकता को एक अवगुण समझती हूँ। इसके द्वारा मुझे कितना कष्ट मिला है, यह आपको क्या बताऊँ।

यह कह कर प्रमदा फिर चुप हो गई। कमरे की पश्चिमी खिड़की ज़रा सी खुली थी। उसी में से धूप का एक लकीर कमरे में प्रविष्ट हो परमाणुओं के साथ नाच रही थी। वह उधर ही टकटकी बाँधे देखने लगी। क्या परमाणुओं के हृदय की धड़कन भी हमारी भाँति सुख और दुख से खेलती हैं, यही शायद वह सोचने लगी थी।

४

"फिर ?" प्रमदा को वैसे ही बैठे हुए जब लगभग पाँच मिनिट बीत गये तो रामेश्वरी ने पूछा।

"फिर क्या" अपने को सँभालते हुए प्रमदा ने कहा—"इसके दूसरे दिन ही वह चल दिया।"

"चल दिया! इतनी जल्दी बिना किसी से कुछ कहे?"

"हाँ, परन्तु अपनी चारपाई पर काग़ज़ का टुकड़ा जिस पर उसके हाथ की लिखी केवल एक लाइन थी, अवश्य छोड़ गया।"

"क्या लिखा था उसमें?"

"लिखा था कि आपकी दुविधा मिटाने के लिये तथा प्रमदा का भविष्य उज्ज्वल करने के लिए क्षमा चाहता हुआ आपके बन्धनों से मुक्त हो रहा हूँ"—प्रमदा कहने लगी—"मेरे पिता जो अभी तक स्थिति को पूर्णतया समझ नहीं पाये थे ये शब्द पढ़कर घबरा उठे।"

"क्या लिखा है?" मेरी माता बेचैनी से पागल हो रही थीं।

पिता ने कुछ जवाब न दिया। काग़ज़ का टुकड़ा उनके हाथ में पकड़ा कर आप सिर थाम कर पास पड़ी हुई चारपाई पर बैठ गये। माता काग़ज़ पर लिखे हुए वे थोड़े से शब्द उतावली से पढ़ गईं। फिर कमरे के एक कोने में खड़ी काँपती हुई मुझ अभागिन की ओर देखने लगीं और कुछ क्षण तक वैसे ही खड़ी रहीं। क्या जाने उनके मन पर उस समय किन भावों का आधिपत्य था। सहसा मेरी ओर से मुँह मोड़ कर उन्होंने अपने पति की ओर दृष्टि डाली, "क्या सोच रहे हो?"

"प्रमोद के इस कार्य में कितनी वीरता है और कितनी मूर्खता है, इसे आँकने का यत्न कर रहा हूँ"—उन्होंने क्षीण आवाज़ में जवाब दिया।

"मूर्खता?" अब तक मेरी माता पर आँसू विजय पा चुके थे। —"बलिदान के पवित्र मन्दिर में मूर्खता ढूँढ रहे हो? बलिदान की अग्नि में जल कर बड़ी से बड़ी मूर्खता भी वीरता में परिणत नहीं हो जाती क्या? मुझे तो खेद है कि प्रमोद की माता होती हुई भी मैं उस देवात्मा को पहिचान न सकी।" यह कहते-कहते उनकी आवाज़ बिलकुल टूट गई। वह भी अपने पति के पास चारपाई पर बैठ गईं। उस समय दिन पूरी तरह

नहीं निकला था इस लिए चारों ओर सन्नाटा था। हाँ, कभी-कभी हवा का एक झोंका हम तीनों की बोलती हुई साँसों से छेड़-छाड़ करके स्थिति में और भी खीझ पैदा कर देता था। बहुत देर तक हम ज्यों के त्यों बने रहे, फिर सहसा मेरे पिता चारपाई से उठ खड़े हुए और बोले, "मैं ज़रा उसे ढूँढने जा रहा हूँ।"

"परन्तु कहाँ ?" मेरी माता ने चिंतित स्वर में पूछा—"देखना कहीं..."

"घबराओ मत। मैं पागल थोड़े ही हूँ।" मेरे पिता ने ढाढ़स देते हुए जवाब दिया—"दस बजे तक अवश्य लौट आऊँगा।"

पिता अपने वादे के पक्के निकले, वह नौ बजे ही वापिस आ गये।

"क्या कुछ पता चला ?" रामेश्वरी ने प्रश्न किया।

"नहीं जान-बूझ कर छिपने वाले को भला कौन ढूँढ सकता है। इसके अनंतर भी हम अखबारों द्वारा प्रमोद का पता लगाने का यत्न करते रहे, परन्तु व्यर्थ। कुछ दिनों के अनंतर हम पूर्णतया निराश होकर बैठ गये। अब फिर मेरे माता-पिता मेरी चिन्ता में लग गये। थोड़े ही दिनों की दौड़-धूप के अनंतर दहेज में मोटर देने का वायदा करके मेरे पिता ने मेरे लिए एक वर ठीक कर लिया। लड़का उन दिनों ब० ए० में पढ़ रहा था और उसके पिता एक सरकारी दफ्तर में नौकर थे। उनका मासिक वेतन तो शायद दो सौ रुपया से अधिक न था, परन्तु उनकी उपरली आमदनी की बहुत धाक थी और कहा जाता था कि उनके पास अतुल धन है। इस लिए यह जानते हुए भी कि अब मकान का बिकना अनिवार्य है, मेरे पिता फिसल पड़े।

"बला से हम कष्ट में रह लेंगे, परन्तु प्रमदा तो सुखी हो जायगी !"—सगाई के बाद मेरे पिता ने माता से कहा।

"बच्चों की ममता भी माता-पिता से क्या नहीं करवाती, क्या क्या नहीं छुड़वाती"—रामेश्वरी बीच में बोल उठी।

५

"विवाह के कुछ ही दिन बाद मुझे पता चल गया कि मेरे पिता धोखा खा गये थे"—प्रमदा ने फिर आरंभ किया—"मेरे श्वसुर जी की उपरली आमदनी का कोई अस्तित्व न था। मुझे तो कहते हुए भी लज्जा आती है कि वह हमारे जैसे भोले-भालों को फँसाने के लिए गढ़ी हुई एक कहानी-मात्र थी। परन्तु दो सौ रुपये मासिक में वे कैसे बढ़िया मकान, दो-तीन नौकर, और घोड़ा-गाड़ी रख सकते थे, यही मुझे चकित कर रहा था। बहुत जोर मारने पर भी मैं इसका रहस्य न समझ सकी। बातों-बातों में सब से पूछा, परन्तु सभी मेरे प्रश्नों को कानों के घाट उतारने से पहले ही शब्दों के जाल में फँसा कर तोड़-मरोड़ कर इधर-उधर फेंक देते थे। आखिर एक दिन कचहरी के चपरासी ने यह गुत्थी भी सुलझा दी।"

"क्या क़र्ज़े पर तो नहीं रह रहे थे?"—रामेश्वरी ने पूछा।

"क़र्ज़े पर नहीं तो और क्या?"प्रमदा ने जवाब दिया—"और क़र्ज़ा भी उनके ऊपर इतना अधिक था कि कई वर्ष निरंतर सँभालने पर भी उसका सँभलना असंभव था। फल यह निकला कि नौकरी से हाथ धोने पड़े और दिवाले की शरण लेकर जेल जाते जाते बचे। मेरे पिता ने जब यह सुना तो क्रोध और दुःख से विकल हो उठे। और मेरी माता के लिए तो यह चोट असह्य हो गई। इसके एक सप्ताह के बाद ही वह उस पार हो गई।" यह कहते कहते प्रमदा के नेत्र जिन में अभी तक पहले आँसू भी सूख नहीं पाये थे फिर छलछला उठे। वह बहुत देर वैसे ही बैठी रही। आखिर आवाज को सँभालती हुई बोली—"मेरे पति को पढ़ाई छोड़ने पर विवश होना पड़ा और वे नौकरी की तलाश में इधर-उधर धक्के खाने लगे। कोई दो साल की दौड़ धूप के अनन्तर उन्हें तीस रुपये मासिक की नौकरी एक अंग्रेज़ी दुकान पर मिल गई। वे आजकल वहीं हैं और अब साठ रुपये पाते हैं।"

"आप के पिता?"

"वे मेरी माता की मृत्यु के अनंतर कठिनता से एक वर्ष तक जीवे रहे !"

"और आपके सास-ससुर ?"

"उनका देहान्त हुए आज दस वर्ष हो चुके हैं। आह, आज कहीं प्रमोद मिल जाय तो उसे बताऊँ कि जिस बात के लिए तूने अपना सर्वस्व अपने यौवन की उमंगों और अपने भविष्य के स्वप्नों को बलिदान किया था वह किस भांति में मिट्टी में मिली है, आ उसे देख। परन्तु वह मिल ही कहाँ सकता है ?"

"क्यों नहीं बहिन ? बिछुड़े हुए कई बार बीस पचीस वर्ष के अनंतर भी मिले हैं। तुम्हारे भाई को गये गये तो अभी पंद्रह वर्ष ही हुए हैं।"

रामेश्वरी अभी यह कह ही रही थी कि किसी ने बाहर का दरवाज़ा बहुत जोर से खटखटाया। प्रमदा ने आश्चर्य से घड़ी की ओर देखा। अभी तीन भी नहीं बजे थे, "यह इस वक्त कौन आ गया ? कहीं आपका नौकर तो नहीं ?"

"शायद।"

प्रमदा ने जाकर द्वार खोला तो चकित रह गई। सामने प्रमोद खड़ा था। वह बदला हुआ तो बहुत था, परन्तु बहन को अपना भाई पहचानने में आधा क्षण भी न लगा। पागलों की भाँति उछल कर उसके गले से जा चिमटी। "प्रमोद, प्रमोद" उसकी रेशमी नैकटाइ पर नाक रगड़ती हुई बोली।

"हाँ प्रमदा"—दाहिने हाथ की अँगुलियों द्वारा प्यार से उसके बालों से खेलते हुए प्रमोद ने जवाब दिया।

"तुम किधर से आ निकले, तुमने अब तक मेरी सुध क्यों न ली ? तुम कैसे रहे ? कहाँ रहे ?" प्रमदा ने प्रश्नों की बौछार कर दी।

"मैं तुम्हारे कष्ट दूर करने के लिए रुपये बटोर रहा था।"—प्रमोद ने मुसकराते हुए कहा।

"मेरे कष्ट......!"

'देखो मुझे कुछ मत बताओ"—प्रमोद बीच में रोक कर बोला—"मैं सब कुछ जानता हूँ।"

"पर कैसे ?"

"अभी सब बताऊँगा। पर चलो पहले तुम्हारे पतिदेव को दफ्तर से ले आयें।"

प्रमदा उन्हीं मैले-कुचैले कपड़ों में बिना जूता पहने और बिना अंदर बैठी रामेश्वरी से छुट्टी लिये भाग कर प्रमोद के साथ उसकी मोटर में जा बैठी।

प्रमदा द्वारा की हुई अपनी इस अद्भुत अवहेलना पर मुस्कराती हुई रामेश्वरी उठी और चुपके से अपने घर की ओर चल दी।

क्षमा

खिड़की की दरार से फूटती हुई धूप की एक बारीक लकीर आराम-कुर्सी पर अधलेटी सी पड़ी राजो के बालों पर खिंची हुई थी। राजो चिन्तामग्न थी। इतने में उसके पति प्रभुदास ने प्रवेश किया, एक उड़ती हुई दृष्टि से अपनी पत्नी की ओर देखा और चौंक कर बोला—"यह क्या! तुम्हारे तो बाल सफेद होते जा रहे हैं ?"

"बाल सफेद होते जा रहे हैं ?"—राजो घबरा कर उठ खड़ी हुई—"सच ?"

उसके खड़े होते ही धूप की लकीर उसके सिर से खिसक गई। बालों पर सफेदी का नाम भी न रहा।

"मेरी भूल थी।"—प्रभुदास ने लज्जित होते हुए कहा—"धूप ने धोखा दिया।"

राजो फिर कुर्सी पर बैठ गई और अपने सिर पर हाथ फेरती हुई

बोली—'खैर, यदि आज नहीं भी बाल सफ़ेद हुए तो कल तक हो जायेंगे। जिसका जीवन ही चिन्ताओं से ओत-प्रोत हो उसको ऐसी शारीरिक व्याधियों का निशाना बनना ही होगा।"

"क्यों, बात क्या है ?"—प्रभुदास ने चिन्तित स्वर में पूछा।

"क्या पूछते हो !"—राजो ने टालते हुए जवाब दिया।

"तब भी, कहो तो ?"

"बुरा न मानना, पर इन माँ रानी के मारे तो मेरा नाक में दम है।"

"माँ रानी ?" पत्नी के स्वर में मिला व्यंग्य प्रभुदास से छिपा न रह सका।

उसने कुछ जवाब न दिया। असमञ्जस में पड़ गया। माँ रानी उसकी माँ थी और राजो पत्नी। जवाब दे तो क्या। पिछले छः वर्षों से वह इन दोनों को एक दूसरे के निकट लाने का भरसक प्रयत्न कर रहा था, पर व्यर्थ। न उसकी माता दयादेवी अपना शासन छोड़ना चाहती थी, और न राजो अपने स्वत्वों को निछावर करने के लिए तैयार थी। इसलिए बात बढ़ती चली गई। आखिर वही हुआ जो प्राय: ऐसे मामलों में होता है। यौवन और नवीनता ने बुढ़ापे पर पूर्ण विजय पाई। दयादेवी का शासन घर की तंग और अँधेरी कोठरी की चहारदीवारी तक सीमित हो गया। वहीं से वह बक-झक लेती थी।

उस कोठरी में पड़े-पड़े वह अपने पुत्र और पुत्र-वधू की बात सुन रही थी। अन्तिम वाक्य सुनकर वह क्रोध से तमतमा उठी। बहू से अधिक क्रोध उसे अपने बेटे पर आया—आखिर मैं उसकी माँ हूँ। फिर भी किस प्रकार कायरों की भाँति उसकी लल्लो-चप्पो कर रहा था और अब बिलकुल चुप है। हमारे समय में तो ऐसी स्त्रियों की जबान खींच ली जाती थी। वह क्रोध से काँपती हुई चारपाई से उठी और एक-दो पग द्वार की ओर बढ़ाये, फिर कुछ सोचती हुई रुक गई। जिस युद्ध-क्षेत्र में हार निश्चित हो वहाँ जाने से लाभ ही क्या। वह अपनी चारपाई पर आकर लेट गई।

लेकिन अभी उसे और भी कुछ सुनना था। प्रभु की जबान सहसा खुल उठी। उसने अन्यमनस्कता से पूछा—"हुआ क्या है?"

"वही जो रोज होता है!"—राजो घृणा से बुझे हुए स्वर में कहने लगी—"घर भर को थूक-थूक कर भर देती है। मैंने सुबह इतना ही कहा कि ऐसा करना ठीक नहीं, तो मेरे ऊपर चील की तरह झपटी। वह वह सुनाई कि क्या कहूँ।"

"इसमें बुरा मानने की क्या बात थी। थूक से तो सैकड़ों बीमारियाँ फैलती हैं। यह तो बड़ी बुरी बात है।"

"इसीलिए तो मैं कहती हूँ!"—राजो ने प्रोत्साहन दिया।"

"क्या?"

"मेरा इनसे पीछा छुड़वाओ। इस घर की राजधानी इन्हें सौंप कर मुझे कहीं और ले चलो।"

"सोचूँगा।"

"सोचूँगा!"—दयादेवी अवाक् रह गई। उसे विश्वास था कि राजो के अंतिम प्रस्ताव को उसका पुत्र ठुकरा कर रख देगा। परन्तु वह उस क्रूर और अन्याय-पूर्ण प्रस्ताव पर भी विचार करना चाहता है। मैं अब इतनी अनावश्यक हो गई हूँ। मैं ही क्यों न स्वयं कहीं चल दूँ। उसका आत्माभिमान जागृत हो उठा। चारपाई से उठ कर लड़खड़ाती टाँगों से कमरे में टहलने लगी।

कुछ ही देर के बाद दयादेवी फिर अपनी चारपाई पर जा लेटी और गहरे सोच में डूब गई।

उस दिन से चालीस वर्ष पहले उसने एक बारह वर्षीय अल्हड़ लड़की के रूप में इस गृहस्थी के अन्दर प्रवेश किया था। आरम्भ में कुछ दिन तक जरूर वह झिझकती सी रही, किन्तु शनैः शनैः वह अपना स्थान बनाने लगी। यहाँ तक कि जब बीस वर्ष की आयु में उसने प्रभु को जन्म दिया, उस समय घर में वह अपना एकमात्र साम्राज्य स्थापित कर

चुकी थी। उसके श्वसुर खाट से लगे थे। सास उनकी सेवा-शुश्रूषा में रहती थीं और प्रभु के पिता घर का काम-काज देखते थे। ऐसी परिस्थिति में दयादेवी के सम्मुख कौन ठहर सकता था? यह अवस्था प्रभु के विवाह तक बनी रही। प्रभु का विवाह! कहाँ तो विवाह के लिए मानता ही न था। स्त्री के नाम से चिढ़ता था और कहाँ उसकी सूरत देखते ही उसके तलवे चाटने लगा। कितने चाव से वह बहू को व्याह कर लाया थी और उसने दो ही मास में प्रभु के देखते-देखते उसके साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करके रख दिया। अब उसका जीना भी अखर रहा था आज कहीं प्रभु के पिता होते! उसने एक दीर्घ निश्वास छोड़ा और उसके नेत्रों में आँसू छलछला आये। किंतु अब रोने से तो नहीं बनेगा। चाहे उसे गली गली भीख माँगनी पड़े; किन्तु वह इस घर में अब न रहेगी। वह आधे क्षण में ही अपने ऊपर प्रभुत्व पा गई। नेत्रों में छलकते आँसू वहीं सूख कर रह गये। उसने घर छोड़ने का पूरा निश्चय कर लिया।

२

प्रभुदास ने अँगड़ाई लेकर अपनी पत्नी की ओर देखा। सूर्य की प्रथम किरण उसके अस्त-व्यस्त बालों के साथ खेल रही थी। राजो कुर्सी पर बैठी थी। मुस्करा कर बोली,—"जग गये? आज तो खूब सोये हो?"

"हाँ, आज नींद कुछ अधिक ही ज़ोर पकड़ गई।"—रजाई एक ओर को फेंक कर वह शीघ्रता से उठ बैठा। दो-चार पग कमरे में चला, फिर सहसा ठहर गया। और आँखें मलता हुआ बोला—"आज माँ का कमरा बहुत शान्त है।"

"नहाने धोने गई होंगी।"—उसकी पत्नी ने उदासीनता से जवाब दिया।

"इस समय? नहा तो वे तारों की छाया में लिया करती हैं। कहीं बीमार तो नहीं पड़ गई?"

"बीमार?"

"हाँ ! जरा देखो तो सही।"

"तुम भी एक क्षण के लिए चैन नहीं लेने दोगे। अभी पाँच मिनट भी बैठे नहीं बीते कि फिर उठा रहे हो।"—राजो बड़बड़ाती हुई कमरे से बाहर निकल गई।

वह दो क्षण में ही लौट आई। उसके चेहरे पर आश्चर्य के चिह्न थे।

"क्यों ?"—प्रभुदास ने पूछा।

"माँ कमरे में नहीं हैं।"

"कमरे में नहीं हैं, तो गई कहाँ ? देखो, छत पर होंगी।"

राजो के पीछे प्रभुदास भी घबराया सा छत की ओर भागा। किन्तु दयादेवी वहाँ भी न थीं। इसके अनन्तर उन्होंने घर का कोना-कोना छान डाला, पर माँ न मिली। यह कि दयादेवी जानबूझ कर घर छोड़ गई है, अब निश्चित था। प्रभुदास निराश होकर कुर्सी का सहारा लेते हुए खड़ा हो गया और पत्नी की ओर देखते हुए बोला—"अब ?"

"मैं क्या कर सकती हूँ ?" राजो ने जरा तीखे स्वर में जवाब दिया।

"तुम कुछ नहीं कर सकतीं !"—प्रभुदास भी झल्ला उठा"—तुम्हारी ज़बान ने ही तो यह अनर्थ ढाया है।"

"मेरी ज़बान ?" राजो के नेत्रों से आग की चिनगारियाँ फूटने लगीं—"इसे काट डालो। न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। तुम्हारे हृदय के भीतर क्या है मैं बहुत दिनों से जानती हूँ। तुम ठहरे माँ बेटे, तुम दोनों का लहू एक है। तुम से न्याय की आशा करना व्यर्थ है।"

"किन्तु......"

"यदि वह चल दी है"—राजो पति के वाक्य का आरम्भ में ही गला घोंट कर कहती चली गई—"तो मैं भी जा सकती हूँ। मेरे लिए जाना ही उचित है।"

प्रभुदास हत-बुद्धि सा खड़ा रह गया। इस नई शब्द-वर्षा ने उसकी

जिह्वा पर मानो ताला डाल दिया। इस विषम परिस्थिति को सँभाले तो कैसे? पास पड़ी हुई कुर्सी पर बैठ गया। दोनों नेत्रों को अपने बाएँ हाथ द्वारा ढाँप लिया और स्फूर्ति की एक किरण प्रदान करने के लिए करुणा-सागर से प्रार्थनाएँ करने लगा।

राजो कुछ देर पति की ओर देखती रही। उसके नेत्रों में कुतूहल था, व्यंग्य था और थी थोड़ी सी दया। फिर एकाएक बोल उठी—"अब यहाँ बैठे-बैठे क्या कर रहे हो? उठ कर माँ की खोज खबर क्यों नहीं लेते।"

वाणी में तीव्रता जरूर थी, किंतु अपनत्व भी स्पष्ट था। प्रभुदास झटपट उठ खड़ा हुआ—"मैं अभी जाता हूँ। तुम......"

"मेरी चिन्ता न करो। जाओ।"

प्रभुदास तीर की भाँति घर से बाहर हो गया। कोई घण्टे भर के बाद बिना कुछ पता लगाये वह लौट आया।

३

तीन दिन बीत गये। प्रभुदास दिन भर दफ्तर में काम करता और सुबह-शाम माँ की खोज-खबर में लगा रहता, किन्तु सब व्यर्थ। कहीं कुछ बात न बनती थी।

प्रभुदास यूँ भी उन नवयुवकों में से था जिनका जीवन साँसों के दो तारों में ही निहित होता है। किन्तु आज-कल उसकी अवस्था बहुत ही करुणाजनक हो रही थी। अन्दर धँसे हुए गाल और भी सिमटते जा रहे थे। चेहरे पर मानो किसी ने पीले रंग की कूची फेर दी हो। सदा चमकती रहने वाली आँखों की ज्योति भी कुछ-कुछ क्षीण पड़ने लगी थी। मस्तक पर की रेखाएँ गहरी हो उठी थीं।

माता का वियोग उसके पति के साथ यह अनर्थ ढा देगा, राजो ने भूल कर भी न सोचा था। चिन्तित तो वह भी पहले दिन से ही हो गई थी, पर अब तो उसकी चिन्ता उग्र रूप धारण कर रही थी। यह ठीक है कि सास के साथ कटूक्तियों का लेन-देन प्रायः वह करती रहती थी। किन्तु

इस जीवन की अब उसे आदत ही नहीं पड़ गई थी, बल्कि उसे एक तरह का रस भी इस में मिलने लग गया था। इसलिए सच्चे हृदय से उसने कभी भी यह नहीं चाहा था कि दयादेवी घर छोड़ कर चल दे।

रात को बिस्तर पर लेटे-लेटे भी वह अपनी सास की समस्या को उधेड़ती बुनती रहती। वह जा कहाँ सकती है, यह प्रश्न उसके मस्तिष्क में सौ बार कौंधता, किन्तु अपने आप उलझ कर रह जाता।

उस की सास को गये तीसरी रात थी। निर्मल नीले आकाश में पूर्णिमा का चाँद चाँदी के बड़े गोले के समान चमकता हुआ अपनी हृदय-हारिणी चाँदनी चारों ओर छिटका रहा था। टिमटिमाते तारे आकाश-कुसुमों की नाईं मुस्करा रहे थे। इसी छत पर, ऐसे ही चाँद और तारों की छाया में उसने अपनी सोहाग की रात बिताई थी। सोहाग की रात! यह छत और चाँद तारे उसे कितने प्रिय थे। उसके पहले भी अनेक स्त्रियों ने इसी वातावरण में वैवाहिक जीवन में प्रवेश किया होगा। पता नहीं उसको सास की सोहागरात कैसी रही होगी। उसने वह कहाँ बिताई होगी! वह धरती क्या दयादेवी को अब तक प्रिय न होगी! अवश्य होगी। तो क्या वह वहाँ ही...। राजो चारपाई से उठ बैठी। कुछ ही दूरी पर प्रभुदास लेटा था। उत्तेजना भरे स्वर में बोली—"सो रहे हो क्या?"

"नहीं तो।"—उसने चौंक कर जवाब दिया—"क्या बात है?"

वह भी उठ कर बैठ गया। राजो ने आधा क्षण पति की ओर देखा—"तुम ने मुझे एक बार बताया था कि तुम किसी गाँव से आकर यहाँ बसे थे।"

"हाँ! लेकिन हमें गाँव छोड़े हुए भी आज पैंतीस-चालीस वर्ष होने को आये।"

"तुम्हारा वहाँ एक मकान भी था?"

"था तो, किन्तु अब तक उसका क्या जाने क्या हो चुका हो। पिछले कई वर्षों से वहाँ कोई गया तक नहीं। क्यों, बात क्या है?"

"कुछ नहीं। तुम मेरे प्रश्नों का उत्तर दिये जाओ। तो क्या माँ उसी घर में ब्याह कर आई थीं?"

"सुना तो ऐसा ही था।"

"तो वह इस समय वहाँ होंगी। ऐसा मेरा विश्वास है।"

"वहीं। उस खँडहर में। होश की बात तो करो। वे वहाँ क्यों जाने लगी हैं?"

"इसलिए कि वे पहले पहल वहीं ब्याहकर आई थीं। वहीं आरम्भिक जीवन के स्वप्न और उमंगें उन्होंने देखी थीं!"

प्रभुदास खिलखिला कर हँस पड़ा।

"इसमें हँसने की क्या बात है?"—राजो के स्वर में जरा तीव्रता घुस पड़ी—"मुझे उस गाँव का नाम बता दो। कल शाम तक माँ यहाँ आ जायँगी।"

प्रभुदास कुछ देर चुप रहा। फिर गम्भीर स्वर में बोला—"यदि तुम्हें इतना दृढ़ विश्वास है तो मैं कल ही छुट्टी लेकर वहाँ देख आऊँगा।"

"तुम्हारे देखने से नहीं, मेरे जाने से बात बन सकती है।"

"तो तुम भी चलो।"

"धन्यवाद।"

४

अगले दिन गाँव की सीमा पर ही राजो और प्रभु को मालूम हो गया कि दयादेवी सचमुच गाँव में पहुँची हुई थी। पड़ोसियों से बची-खुची अपने घर की कुछ धरती पर, टाट की छत बनाये डेरा डाले पड़ी थी। खबर सुन दोनों प्रफुल्लित हो गये। प्रभु के पग उतावली से गाँव में घुसने के लिए व्यग्र हो उठे। परन्तु राजो वहीं की वहीं कुछ चिन्तित सी खड़ी रह गई।

"अब चलती क्यों नहीं?"—प्रभु ने उसका हाथ पकड़ कर खींचते हुए उत्तेजित स्वर में कहा—"गाड़ी में तो बहुत जोश था।"

"हृदय में सहसा एक हलचल छिड़ गई है।"—राजो की वाणी थिरक रही थी—"मैं न जा सकूँगी। तुम उन्हें ले आओ। मैं यहीं प्रतीक्षा करूँगी।"

"लेकिन कुछ कारण भी तो होना चाहिए?"

"कारण है पर शायद तुम समझ न सकोगे। इसलिए तुम अकेले ही जाओ।"

"नहीं, तुम्हें कारण बताना होगा।"

सामने बट के वृक्ष पर कुछ पक्षी शोर मचाते हुए एक दूसरे के साथ छेड़-छाड़ कर रहे थे। राजो बहुत देर तक उनकी ओर देखती रही। फिर सहज स्वर में बोली—"मैं अपने स्वभाव से डरती हूँ।"

"क्या मतलब?"

"मतलब यही है कि इस समय माँ से उलझने की शक्ति मुझ में नहीं और अपमान का एक संकेत भी मेरे तन-बदन में आग फूँक कर परिस्थिति को खराब कर सकता है। इसलिए मेरा जाना भय से खाली नहीं। तुम ही जाओ।"

"अच्छा, एक बात मानो!"—प्रभु अनुनय करता हुआ बोला—"द्वार तक मेरे साथ अवश्य चलो।"

द्वार से कुछ ही अन्तर पर राजो रुक गई। द्वार क्या था, दो कीलों के सहारे लटकता एक टाट का टुकड़ा था। काँपते हृदय से प्रभु ने उसे एक ओर हटा कर घर में प्रवेश किया। दयादेवी एक टूटी सी चारपाई पर बैठी थी। सामने जलते चूल्हे पर एक छोटी-सी देगची रखी थी। माँ ने मुस्करा कर पुत्र का स्वागत किया।

प्रभु पुलकित होता हुआ आगे बढ़ा और माँ के पाँवों में लोट गया।

"कैसे आये हो?"—आशीश देते हुए माँ ने उदासीन स्वर में पूछा।

"तुम्हें लेने।"

"मुझे लेने!"—दयादेवी व्यंग्य से बुझे स्वर में बोली—"तुम्हें यह

किसने बताया कि मैं यहाँ हूँ ?"

"राजो ने।"

"राजो ने ?"

"हाँ, कल रात एकाएक चारपाई से उठ कर पूर्णमासी के चाँद की ओर देखती हुई बोली—"जानते हो माँ कहाँ है ?"

"कहाँ है ?" मैंने पूछा।

"वहीं जहाँ वे पहले पहल ब्याहकर आई थीं। जहाँ उन्होंने अपने सपनों और उमंगों के महल बनाये थे।"

दयादेवी आश्चर्य से उछल पड़ी—"सचमुच ? राजो ने मेरे हृदय की धड़कन को कैसे जान लिया। राजो के साथ मैंने सचमुच अन्याय किया है। मैं अपना युग भूल कर उससे व्यवहार करती आ रही थी। परन्तु उसने मेरा युग नहीं भुलाया। यही उसकी महानता है। चलो मैं उससे क्षमा माँगूंगी।"

"इसकी जरूरत नहीं पड़ेगी माँ जी", राजो ने तेजी से घर में प्रवेश करते हुए कहा, "मैं स्वयं ही आपसे क्षमा माँगने के लिए आ रही हूँ।"

इससे पहले कि राजो उसके पाँव छुए दयादेवी ने आगे बढ़ कर उसे हृदय से लगा लिया। वर्षों का मनोमालिन्य उन दोनों के नेत्रों से निकलती आँसुओं की नदी में बह गया। और प्रभु के हृदय में दैविक शान्ति की एक अमिट रेखा अङ्कित हो गई।

पति-परमेश्वर

लॉन के कोने में एक कुर्सी पर बैठी हुई अमला कभी रैकेटसे पिटती हुई गेंद की ओर देखने लगती और कभी घुटनों पर पड़ी चित्र-मय पत्रिका के पृष्ठ अन्यमनस्क भाव से उलटने लगती। उसके बड़े-बड़े नेत्र सदा की भाँति आज हँस नहीं रहे थे। मस्तक पर गहरे चिन्तन की छाप पड़ी हुई

थी। सहसा पत्रिका उसने सामने रखी हुई तिपाई पर फेंक दी और अपने अधकटे सुनहले बालों से खेलती हुई वह उठ खड़ी हुई। खिलाड़ियों की ओर से मुँह मोड़कर सफेदे के वृक्षों की दो लम्बी कतारों के बीच कोठी तक पहुँचती हुई लाल गेरु से रँगी सड़क को रौंदने लगी। उसके पाँवों की आहट सुनकर कभी कभी किसी-किसी वृक्षसे एक-आध पक्षी फड़फड़ाकर उड़ जाता; किन्तु वह इस सब कुछ से बेख़बर थी। सड़क को दो-एक बार आर-पार कर के वह फिर अपने स्थान पर आ बैठी। इतने में खेल समाप्त हो गया। खेल में की गई भूलों, जीते हुए गेमों और खोए हुए अवसरों की चर्चा करते हुए खिलाड़ी अमला के निकट कुर्सियों पर आ बैठे। अमला ने उड़ती हुई दृष्टि से एक बार उन चारों—अर्थात् अपने भाई रजत, उसके मित्र कल्याण, कल्याण की बहन इला और सबकी सहेली इन्दु—की ओर देखा। फिर अपने भाई पर दृष्टि गड़ाकर बोली—'भैया, कुछ सुना ?'

'क्या ?'—रजत ने आश्चर्य से अमला की ओर देखा।

'तुम्हारे बैरिस्टर मित्र ने तीसरी पत्नी गौरी का भी परित्याग कर दिया ?'

'किसने ? सन्तोष ने ?'

'हाँ, उसी असन्तोष की मूर्ति सन्तोष ने।'

'क्यों ?'

'यह वही जाने।'—अमला दाँत पीसती हुई बोली—'भैया, क्षमा करना, तुम्हारी पुरुष-जाति पूर्ण रूप से स्वार्थी और हृदयहीन है।'

'हो सकता है;' कल्याण अपने मोटे ओठों को बल देकर मुस्कराता हुआ बीच ही में बोल उठा—'किन्तु यह जाति तुम्हारे लिए कितनी आकर्षक, कितनी मनमोहक है, क्या इससे इनकार करोगी ?'

'मनमोहक ?'—इन्दु अपनी पतली कलामय अंगुलियों से रैकेट घुमाती हुई बोली—'जितना कुरूप पुरुष हो सकता है, तुम कल्पना भी नहीं कर सकते। अपने-आपको अपने चश्मे से न देखो, कल्याण बाबू !'

'यह सब हमारे समाज का दोष है।'—इला ने शायद इसीलिए कहा कि वह भी ज़बान रखती थी।

'समाज?'—अमला फिर जोश में आ गई—'यह सब हमारा दोष है।'

'हमारा?'—इन्दु का स्वर आश्चर्य से ओतप्रोत था।

'हाँ, हमारा। सिवाय आहें भरने के क्या हमने कभी कुछ किया। क्या हममें से एक भी लड़की ने सन्तोष को उसके अन्याय का दण्ड देने की बात सोची?'

'दण्ड?'—इन्दु ने प्रश्न-सूचक दृष्टि से अमला की ओर देखा।

'हाँ, दण्ड। यदि हम मृतप्राय न होतीं, यदि हम में कुछ जीवन होता तो आज तक कोई-न-कोई लड़की सन्तोष को नरक का द्वार दिखा चुकी होती।'

'लड़की!'—कल्याण खिलखिला कर हँसा—'पग-पग पर मूर्च्छित होने के भय से अपने हैण्डबैग में स्मेलिंग-साल्ट की शीशी रखने वाली लड़की! अमला रानो, कहने और करने में बहुत अन्तर है।'

'कहने वाला कर भी सकता है।'

'कर सकता है, यह शायद ठीक हो; पर क्या वह करेगा भी?'

'करेगा।'—अमला गहरे सोच में पड़ गई। कुछ ही दूरी पर लम्बाई में अपने से चौगुना तिनका चोंच में दबाए एक चिड़िया ज़मीन से उड़ कर सामने वृक्ष पर जा बैठी। अमला कुछ देर उसकी ओर देखती रही, फिर निश्चयात्मक स्वर में बोली—'हाँ, कहने वाला करके भी दिखलाएगा।'

'क्या मतलब?'—रजत ने घबरा कर पूछा।

'मतलब यही कि मैं सन्तोष को ठीक राह दिखाऊँगी, उसे नरक के औघट घाट उतारूँगी और उसे चौथा पत्नी ब्याहने का अवसर ही न दूँगी।'

'तुम?'—इन्दु और इला एकाएक बोल उठीं।

रजत अवाक्-सा अपनी दुबली-पतली बहन की ओर देखने लगा

और कल्याण संशयसूचक भाव द्वारा अपना सिर हिलाने लगा।

'हाँ, मैं।'—अमला का चेहरा तमतमा उठा। वह उठी और भागती हुई कोठो की ओर बढ़ चली।

२

वह सारी रात अमला ने चारपाई पर शरीर रगड़ते हुए बिताई। क्या वह अपनी ऊँचाई से ऊँचे तो नहीं उड़ रही थो? वह कितनी बड़ी बात कह आई थी। क्या वह उसे पूरा कर सकेगी? क्या उस नर-पिशाच सन्तोष का पार वह पा सकेगी? नर-पिशाच! सन्तोष के चित्र के पैशाचिक रूप उसके नेत्रों के सम्मुख सारी रात नाचते-मँडराते रहे। उन रूपों ने उसे डराया जरूर; पर उसके निश्चय को हिला न सके। कब और कैसे उस निश्चय को व्यावहारिक रूप वह दे सकेगी, इसी उधेड़-बुन में दिन चढ़ आया। वह चारपाई से उठ कर कमरे में टहलने लगी। सूर्य की प्रथम किरणें उसके चेहरे और केशराशि से खेलती हुई कमरे में इधर-उधर थिरकने लगीं। कुछ देर वह उन सुनहली रश्मियों का निरीक्षण करती रही। फिर तेजी से कमरे के बाहर चली गई, मानो उसने कोई निश्चय कर लिया हो। कोई आध घंटे के अनन्तर अपनी संग-मर-मर-सी गौरवर्ण अंगुलियों द्वारा भड़कीली धानी रंग की साड़ी का छोर सँभालती हुई जब वह घर से बाहर की ओर चली, तो धूप काफ़ी चढ़ आई थी।

'किधर जा रही हो?'—रजत ने, जो बरामदे में एक आराम कुर्सी पर पड़ा अँगड़ाइयाँ ले रहा था, पूछा।

'चाय पीने।'

'चाय पीने, कहाँ?'

'यहीं, किसी रेस्तराँ में।'

'मालूम होता है, घर की चाय से ऊब गई हो।'—रजत मुस्कराया।—'शोफ़र से कह कर गाड़ी तो मँगवा ली होती।'

'मैं ट्राम पर चली जाऊँगी।'

यह कह कर शीघ्रता से क़दम बढ़ाती हुई वह घर से बाहर निकल आई। ग्रैण्ड रेस्तराँ में चाय के लिए सन्तोष प्रायः प्रति सुबह-शाम जाया करता था, यह अमला जानती थी। शायद आज भी उससे भेंट हो जाय, इसी आशा से वह ग्रैण्ड रेस्तराँ में जा पहुँची। हाल में घुसते ही उसे पता चल गया कि उसकी आशा फलीभूत हो गई। सन्तोष सचमुच हाल के बड़े द्वार के निकट बैठा था। आधी पी हुई चाय की प्याली सामने पड़ी थी। उस से बेख़बर मुँह के एक कोने में दबाई हुई सिगरेट द्वारा धुएँ के बादल रच रहा था। अमला के अन्दर घुसते ही मानो वह स्वप्न से जाग कर उठ खड़ा हुआ।

'हलो मिस अमला, तुम किधर से भूल पड़ीं ? बैठो।'

'चाय का व्यसन खींच लाया है।'—अमला हँसकर उसके निकट वाली कुर्सी पर बैठती हुई बोली—'अकेले बैठे हो। गौरी बहन किधर है ?'

'गौरी ?'—सन्तोष ने पहले वाली सिगरेट मसल कर ऐश-ट्रे में फेंक दी और एक नई सिगरेट सुलगाते हुए कहने लगा—'वह तपस्विनी हो गई !'

'मैं समझी नहीं।'

'वह मुझसे विलग हो गई है।'

'पर क्यों ?'—अमला का स्वर मधु से ओत-प्रोत था।

'इसलिए कि मैं उसे नहीं भाया। मैं उसे पढ़ाता था आधुनिकता के पाठ; किन्तु वह वैदिक काल के स्वप्न देखा करती थी। बात बनती तो कैसे ? इसलिए हमने यह ठीक समझा कि हमें अलग-अलग रास्ते पकड़ने ही उचित हैं।' यह कह कर सन्तोष थोड़ा रुका। फिर अमला को सिर से पाँव तक देखता हुआ बोला—'किन्तु तुम्हारी दृष्टि में तो शायद मैं बहुत गिर गया हूँ। तुम तो मुझसे बहुत घृणा कर रही होगी।'

'सच पूछते हो ?'

'बिलकुल सच।'

अमला सन्तोष के नेत्रों में नेत्र डाल कर एक-एक शब्द को तौलती

हुई कहने लगी—'मैं तुम्हें एक वीर, एक महान पुरुष समझती हूँ, मिस्टर सन्तोष! आत्मा की पुकार सुनकर तुम इस निर्दय समाज, इस क्रूर संसार को ठोकर मारते हुए कभी नहीं झिझके। आज कितने मनुष्य हैं, जिनमें इतना आत्म-बल है ?'

सन्तोष उछल पड़ा। उसका हृदय सामने बैठी हुई उस अप्सरा-तुल्य नारी के प्रति स्नेह और सम्मान से उमड़ उठा। उसके कृत्य को इस दृष्टिकोण से देखा जा सकता है, तर्क की लाखों युक्तियाँ सोचता हुआ भी वह सोच न सका था। अनायास उसका दायाँ हाथ अमला के दाएँ हाथ की ओर बढ़ा और उसे वह जोर से दबाता हुआ बोला—'मिस अमला, तुम अद्भुत हो—सच-मुच अद्भुत हो!'

अमला की हृदयहारी दन्त-पंक्ति एकाएक चमक उठी। सन्तोष कृतकृत्य हो गया।

'मेट्रो में एक बहुत सुन्दर चित्र आया है। आज शाम को चल सकोगी ?'

'खुशीसे।'

'तो मैं शाम को तुम्हें घरसे ले लूँगा।'

'बहुत अच्छा। अब चलती हूँ।'

'लेकिन तुमने चाय तो पी नहीं।'

चाय! वह चाय को तो बिलकुल भूल ही गई थी। उसने झटपट एक प्याला बनाया और जल्दी से बड़े-बड़े घूँटों में उसे समाप्त कर दिया। फिर उठ खड़ी हुई। मुस्कराते हुए, हाथ जोड़कर सन्तोष को नमस्कार किया और पीठ मोड़कर तेजी से द्वार से बाहर हो गई।

२

सड़क पर आते ही अमला की मुस्कराहट छूमन्तर हो गई। मन अपने प्रति ग्लानि से भर गया। मुख कुछ लज्जा, कुछ क्रोध से लाल हो उठा। वह यह टेढ़ा रास्ता क्यों पकड़ बैठी? आधे घण्टा के लिए उसे

पश्चात्ताप हुआ। फिर हाथों की मुट्ठियाँ बाँधते हुए उसने सोचा, उसे इसी राह पर चलकर अपना ध्येय प्राप्त करना होगा। भावुकता को पाँव-तले रौंदकर उसे अबला से सबला बनना ही होगा। यह सोचते-सोचते उसके चेहरे पर गम्भीरता की छाप पड़ गई। वह कई क्षण वहीं की-वहीं खड़ी होकर सामने बड़े मैदान में उछलते-कूदते बच्चों और उन से खीझती हुई काली-पीली आयाओं को अन्यमनस्क भाव से देखती रही। फिर अपनी ट्राम की ओर बढ़ गई।

ट्राम में बैठकर भी उसकी दुविधा नहीं मिट सकी। उसे शाम को उस दुष्ट, मानवता के उस घृणित प्रतिरूप के साथ सिनेमा देखना होगा। सन्तोष के साथ दो ढाई घंटे का समय बिताना होगा। नहीं, उससे यह सब कुछ न हो सकेगा। फिर? क्या वह अब भी पीछे नहीं हट सकती थी? क्यों नहीं? पर कौन सा मुँह लेकर? उसका आत्माभिमान एकाएक उत्तेजित हो उठा। नहीं, कुछ भी हो, उसे यह खेल खेलना ही होगा। उसकी जाति का इसी में कल्याण है।

घर पहुँचते-पहुँचते अमला की दुविधा थोड़ी-बहुत मिट गई थी। इसीलिए शाम को जब सन्तोष उसे लेने के लिए आ पहुँचा, तो वह पहले से तैयार खड़ी थी। नवेली बहू की भाँति उत्सुकता प्रदर्शित करती हुई वह उसके संग हो ली। मोटर कुछ ही मिनटों में उन्हें मेट्रो तक ले पहुँची। सन्तोष टिकटों का पहले से ही प्रबन्ध कर चुका था, इसलिए वे सीधे सिनेमा-हाल में घुस गए। हाल खचाखच भरा हुआ था। नव-दम्पति, पुरातन पति-पत्नी, भविष्य के सुनहले स्वप्नद्रष्टा प्रियतम-प्रेयसी खिलखिलाते हुए, जिह्वा से ही नहीं बल्कि हृदयों से भी एक-दूसरे से बातचीत में संलग्न थे। किन्तु अमला? हृदय में आह दबाए, घृणा का जलता हुआ अंगार छिपाए, सन्तोष की प्रेयसी बनने का स्वाँग रच रही थी! उसके जी में तो आता था कि पाँव का जूता उतार कर लोगों के देखते ही देखते सन्तोष पर बरस पड़े। पर उसके भाग्य में यह कहाँ? कौन जाने, कब तक उसे यह अस्वाभाविक

जीवन बिताना होगा।

और सन्तोष? उसके मन में एक नई उमंग, एक नई आशा उदय हुई थी। उसका व्यक्तित्व कितना अद्भुत, कितना आकर्षक है! स्त्रियों के हृदय पर अधिकार पाने में वह कितनी जल्दी सफलता प्राप्त कर लेता है, यह सोचता सोचता वह गद्गद् हो उठा। अभी तीसरी को लगाई हुई ठोकर का निशान भी पाँव से न मिटा था कि चौथी उस पर बलाएँ लेती हुई आ पहुँची है। अर्द्ध-प्रकाशित हाल की ज्योति में उसने अमला की ओर इस तरह देखा, जैसे एक बिगड़ा हुआ बालक नए खिलौने को ओर देखता है। उसकी यह दृष्टि अमला से छिप न सकी। वह होंठों को बल देकर मुस्कराई—'क्या देख रहे हो?'

'कितना रूप, कितना यौवन, कितना आकर्षण विधि ने तुझ पर उँड़ेल दिया है, यही देख रहा हूं!'

'कितनी चतुर, कितनी मधुर जिह्वा विधि ने तुम्हें दी है, यह भी कभी सोचा है?'

सन्तोष खिल उठा। कुर्सी की भुजा पर अमला का हाथ पड़ा था। कोमलता से वह उस पर अपना हाथ फेरने लगा। अमला ने कोई आपत्ति नहीं की।

४

उस प्रथम दिवस के अनन्तर तो सन्तोष छाया की भाँति अमला के साथ रहने लगा। सिनेमाघरों, थिएटरों, होटलों, पिकनिकों—सब जगह वे दोनों इकट्ठे ही देखे जाते। इस बीच अमला का व्यक्तित्व इतना प्रबल हो उठा था कि सन्तोष उसकी आँखों के छोटे-से-छोटे संकेत पर भी नाचने लगता था।

उस दिन इतवार था। जुलाई का महीना था। पिकनिक का आयोजन किया गया था। हुगली के उस पार बोटैनिकल गार्डेन है। वहीं जाने का निश्चय था। सन्तोष, इला, इन्दु, कल्याण सभी निमन्त्रित थे

और दस बजे तक ये सब लोग रजत की कोठी पर आ भी पहुँचे। नौकरों को सामान आदि लेकर स्टीमर द्वारा जाने की आज्ञा हुई; इन लोगों ने मोटरों का सहारा लेना उचित समझा। एक मोटर में रजत, इन्दु और इला सवार हो गए, और दूसरी में अमला, सन्तोष और कल्याण बैठे। चौरंगी में पहुँच कर अमला ने शोफ़र को न्यूमार्केट की ओर मुड़ने का आदेश दिया।

'क्यों ?'—सन्तोष ने पूछा।

'मुझे कुछ फूल लेने हैं।

'कौन-से फूल ?'

'काले गुलाब के फूल।'

'काले गुलाब के फूल ?'—कल्याण शोफ़र के साथवाली सीट पर बैठा हुआ बोल उठा—'आजकल काला गुलाब कहाँ ?'

'कलकत्ते में सब कुछ मिल सकता है, कुएड्डू की दुकान पर।'

इतने में न्यूमार्केट आ गया। अमला और सन्तोष उतरकर फूल लेने चल दिए; किन्तु कल्याण ने जाने से इनकार कर दिया। फूलों की दुकानों पर सभी भाँति के फूल थे; किन्तु काला गुलाब कहीं भी दिखाई नहीं पड़ रहा था। अमला चारों ओर दृष्टि दौड़ा रही थी।

'क्या चाहिए, हुजूर ?'—मलमल के कुरते से मानो फूटकर बाहर निकलती हुई काली तोंद से होड़ करते हुए श्याम वर्ण के होंठों द्वारा मुस्कराकर कुएड्डू ने पूछा।

'काला गुलाब। क्या नहीं है ?'

'क्यों नहीं ?'

कुएड्डू के दाएँ हाथ कुछ विलायती फूलों के ढेर लगे थे। उन्हीं के पीछे छिपाकर अमला के प्रिय पुष्प रखे हुए थे। हाथ बढ़ाकर कुएड्डू ने फूलों का बड़ा-सा गुलदस्ता निकाल कर अमला के हाथ में दे दिया। उन्हें देखकर उसका चेहरा खिल उठा। इतने ताज़े, इतने सुन्दर पुष्प! उसने

अपना आधे से अधिक चेहरा उन में छिपा लिया।

'क्या दाम ?'—सन्तोष ने जेब में हाथ डालते हुए पूछा।

'दस रुपए।'

'दस रुपए ? इन मुट्ठी-भर फूलों के लिए!'—अमला आश्चर्य से बोली।

इससे पहले कि कुण्डू कुछ कहे, सन्तोष ने उस के हाथ में दस रुपए का नोट पकड़ा दिया। अमला को बाँह से पकड़कर बाहर की ओर खींचता हुआ रईसाना स्वर में बोला—'जो चीज़ अवश्य लेनी हो, वह किसी दाम पर भी मँहगी नहीं होती।'

पुष्पों से गाल रगड़ती हुई अमला चुप रही।

बाग़ के भीतर पिकनिक करने की अपेक्षा अमला के अनुरोध के कारण नदी-तट पर ही एक वृक्ष की छाया में उन्होंने डेरा डाल दिया। वैसे छाया की कोई आवश्यकता न थी। आकाश में चारों ओर बादल छाए हुए थे। पवन के तीव्र झकोरे हुगली की, जो बरसात के कारण एक छोटे समुद्र का रूप धारण कर चुकी थी, उमड़ती हुई लहरों से अठखेलियाँ करते हुए वातावरण में मस्ती बिखरा रहे थे। काले गुलाब का गुलदस्ता हृदय से लगाए अमला नदी-तट पर टहलने लगी। सन्तोष के पग भी उसी के साथ उठ चले। सन्तोष का हृदय आह्लाद से खिल-खिला उठता था। कभी आकाश पर बनते-बिगड़ते मेघों को देखता, कभी बल्लियों उछलती हुई नदी की लहरों का निरीक्षण करता और फिर उसके तृषित नेत्र अमला के चेहरे पर गड़ जाते। भविष्य के कितने मधुर और सुनहले स्वप्न उसका मस्तिष्क बुन रहा था। इतने में हवा का एक बहुत तेज़ झोंका आया और इसके साथ ही अमला का पाँव एक गीले पत्थे पर जा पड़ा, जिससे वह लगभग फिसल पड़ी। थोड़ा, यत्न करने से वह तो सँभल गई; पर काले गुलाब के फूलों का गुच्छा उसके हाथ से छूटकर नदी में जा गिरा।

'मेरे फूल!'—उसने रोनी सूरत और करुण नेत्रों से सन्तोष की

ओर देखा।

'अभी लाता हूँ।—'सन्तोष ने आव देखा न ताव, झटपट कोट और जूते उतारकर नदी में कूद पड़ा।

बाक़ी सब लोग निकट ही बैठे थे, चौंककर उठ खड़े हुए और भागकर अमला की ओर बढ़े।

'क्या हुआ ?'—कल्याण ने पूछा।

'मेरे फूल !'—जल की तीव्र धारा में बहे जाते उन पुष्पों की ओर उसने संकेत किया। नदी का प्रवाह इतना तेज था, उसकी लहरें इतनी प्रबल थीं कि फूलों के उस गुच्छों को तिनके की भाँति उड़ाए लिए जा रही थीं। और जीवन की बाज़ी लगाकर उनके पीछे यन्त्रवत् हाथ-पाँव मारता हुआ सन्तोष बढ़ा जा रहा था। ज्यों ही वह उस गुच्छे के पास पहुँचता कि एक नई लहर उसे लेकर आगे बढ़ जाती। किनारे पर खड़े सब लोग पुरुष और प्रकृति के बीच लगी हुई इस होड़ को साँस रोके खड़े देख रहे थे। इतने में सन्तोष बहुत दूर नदी के लगभग मध्य में जा पहुँचा।

'अरे सन्तोष तो बहुत दूर निकल गया !—इन्दु बोली।

'दूर !'—कल्याण मानो स्वप्न से जाग कर बोला—उस का लौटना अब बहुत मुश्किल है।'

'मुश्किल ही नहीं, असम्भव है।'—अमला के चेहरे पर एक सेकेंड के लिए मुस्कान की छाया आई और फिर अदृश्य हो गई।

'असम्भव !'—इला, इन्दु, रजत और कल्याण सब एक साथ चिल्ला उठे। अब दूरसे देखने पर भी स्पष्ट मालूम होता था कि सन्तोष थक कर चूर हो गया है। उसके हाथों और पाँवों की गति शिथिल हो रही थी। एक-आध बार उसका सिर अदृश्य हो कर ऊपर उठा था।

'अरे, वह तो गया !'—कल्याण ने घबरा कर कुछ ही दूरी पर खड़े स्टीमर वालों को सन्तोष की सहायता के लिए जाने की आवाज़ दी। स्टीमर तेज़ी से भागा; किन्तु उसके सन्तोष के पास पहुँचने से पहले ही इन सब के

देखते देखते नदी की कराल लहरें सन्तोष को निगल गईं !

इन्दु और इला तो आँसू पोंछती हुई मुँह मोड़ कर वहीं-की-वहीं बैठ गईं; पर अमला ज्यों-की-त्यों खड़ी माँझियों की छटपटाहट देखती रही।

'आदमी खूब था !'—कल्याण बोला।

'हाँ, किन्तु मेरे फूल न ला सका !'

'क्या कहा ?'

'मैं कहा नहीं करती, किया करती हूँ, कल्याण बाबू !'—यह कहते-कहते अमला का गला भर आया। नेत्रों को दोनों हाथों से ढाँप कर औंधे मुँह घास पर लेट गई।

५

तीसरे दिन की बात है। लॉन में कुर्सी डाले अमला चिन्तित बैठी थी। सामने तिपाई पर एक-दो पत्रिकाएँ और उनके ऊपर एक खुला लिफ़ाफ़ा पड़ा था। उसके नेत्र कोठी के बड़े फाटक की ओर लगे थे। कान ज़रा-सी आहट से खड़े हो जाते थे। कुछ ही देर के बाद बाहर मोटर आने का शब्द हुआ और उसके साथ ही रजत उतावली से उसकी ओर बढ़ता हुआ उसे दिखाई दिया। वह उसे देख कर एक बार उठ कर खड़ी हो गई और फिर कुछ सोच कर अपने-आपको सँभालती हुई बैठ गई।

'क्यों ?'—रजत जब उसके पास आ गया, तो अमला ने उत्सुकता से पूछा।

'हाँ, मिल गई लाश।'—सामने वाली कुर्सी पर बैठते हुए रजत ने जवाब दिया।

'कब मिली ?'

'आज प्रात:। वह तो अग्नि की भेंट भी चढ़ गई।'—यह कह कर रजत थोड़ा रुका और फिर बोला—'श्मशान में एक बड़ी विचित्र बात हुई।'

'क्या ?'

'अभी चिता में आग दी ही जाने वाली थी कि सन्तोष की पहली

और दूसरी दोनों पत्नियाँ चिल्लाती और छाती पीटती वहाँ आ निकलीं।'

'अच्छा! कुछ कहती भी थीं।'

'हाँ, तुझे जी भर कर कोस रही थीं।'

'बहुत खूब!'

इतने में रजत की दृष्टि सामने तिपाई पर जा पड़ी।

'यह किसका पत्र है?'

'सन्तोष की तीसरी पत्नी का।'

'क्या लिखा है?'

'यही कि मैं हत्यारिन हूँ! मेरे कारण उसने अपने पति-परमेश्वर को खोया है और विधवा बनी है!'

'अमला के स्वर में छिपा व्यंग्य छिपाए भी छिप न सका था।

'पति-परमेश्वर?'

'हाँ, हमारी जाति के उद्धार में अभी शताब्दियाँ लगेंगी।'

अमला उठ खड़ी हुई। एक बार डूबते हुए सूर्य की ओर देखा और फिर धीरे-धीरे पग रखती हुई कोठी की ओर चल दी।